कवि-सार्वभौम-अनूप-कृत

शर्वाणी

सम्पादक—

विश्वनाथ मिश्र,

एम० ए०, साहित्याचार्य।

प्रकाशक

पारिजात प्रकाशन

चाँदनी चौक, दिल्ली

पहली बार : १९४८

मूल्य

साढ़े सात रुपए

मुद्रक,

अमरचन्द्र

राजहंस प्रेस

दिल्ली । १२-४८



समर्पण।

श्री रघुबरदयालु त्रिवेदी

के

कर-कमलों में

सादर समर्पित

प्रकटित होती मुसकान की अनूप आभा
  जैसे बिखरें हों पुञ्ज पद्म — परिमल के।
    निकल रही है ज्योति नीलिम विलोचनों से
      जैसे कञ्ज — मुक्त हों मधु—व्रत के हलके।

तेरे अनुराग — अंकुरित हृदयाम्बुज को
  भेंट कर सुहृद ! असंग—रंग झलके।
    मेरे शब्द कठिन, सरल भवदीय भाव,
      मानों नेम—उपल समीप प्रेम—जल के।

"अनूप"

भूमिका

१ यह ग्रन्थ!

कवि-सावभौम पं० अनूप शर्मा, एम० ए०, एल० टी द्वारा विरचित इस ग्रन्थ, शर्वाणी, के संपादन का सौभाग्य मुझको प्राप्त हुआ। मुझको खेद ह कि ग्रन्थके कठिन शब्दों का अर्थ तथा कहीं-कहीं दुरूह स्थलों पर टीका-टिप्पणी के अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं कर पाया। साथ ही, मैंने सभी अध्यायों के प्रारम्भ में एक संक्षेप भी दे दिया है जिससे साहित्य में अभिरुचि रखनेवाले पाठकों को बहुत-कुछ पथ-प्रदर्शन हो सकने की संभावना ह। साहित्य का विषय निगूढ़ है ही, फिर भी शुद्ध साहित्यिक अभिरुचि रखनेवाले पाठकों को यह ग्रन्थ बहुत कुछ मनोरंजन प्रदान कर सकेगा,' ऐसा मेरा विश्वास है। इस ग्रन्थ के सात विभाग हैं तथा एक विभाग का दूसरे से कुछ संबंध भी नहीं है। प्रत्येक विषय स्वतंत्र है जो कि विस्तार के साथ लिखा गया है।

काव्य का कोई एक उद्देश्य नहीं है। आचाय मम्मट न कहा हैं:—

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतय।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।

कुछ लोग कहते हैं कविता में परोपदेशकी मात्रा होनी चाहिए, अन्यों का मत है कि उसमें देश-भक्ति की पुट होनी चाहियें, इस प्रकार विविध समीक्षकों के विविध मंतव्य हैं। यह सब उनकी व्यक्तिगत भावनायेंहैं जिनसे दूसरे लोग असहमत होने केलिये स्वतत्र

हैं। मेरा विश्वास है कि कविता को पहले कविता होना आवश्यक है उसके अनंतर वह कैसी भी हो सकती है। कहना न होगा कि इस ग्रन्थ को कवि ने 'स्वान्तः सुखाय' ही लिखा है और उसका उद्देश्य स्पष्ट भी है। यदि इसको पढ़ने से आपको उपदेश मिलता है तो यह ग्रन्थ-कर्ताका परोपकार है और यदि इससे हमारी भारतीय संस्कृति को सहायता पहुँचती है तो यह कवि की देशभक्ति है।

कविवर मैथिली शरण गुप्त के शब्दों में अनूप जी एक समर्थ कवि हैं। उनका यह सामर्थ्य उनके ग्रन्थों में पद-पद पर अनुभूत होता है। इसी ग्रन्थ मे उन्होंने एक-एक विषय पर सौ-सौ छन्द लिखे हैं जबकि दूसरे कवियों को इन विषयों पर चार-पाँच ही छन्द लिखना कठिन हो जाता है। आधुनिक कवियों में ऐसी समर्थता बहुत कम है, इस के प्रमाण की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थकार पहले भगवती की स्तुति से प्रारम्भ करता है। तदनन्तर चरण, मंद मुसकान तथा दृष्टि-पात जैसे विषयों पर अपनी समर्थ लेखनी का संचार करता है। यहाँ उसकी शान्त-रस की भावना समाप्त हो जाती है। पुनः वह अपना लेखनी-सिद्ध-रस---वीर रस---को उठाता है और महाशक्ति के प्रसिद्ध आयुध---चक्र एवं खड्ग---का विशद वर्णन करता है। यों तो अष्टभुजा के अनेक आयुध हैं परन्तु "चक्रं खड्गगदेषु चापपरिघान्' आदि ध्यान के अनुसार केवल दो ही आयुधों का वर्णन करके कवि विश्राम लेता है। महामाया के चरित्र का वर्णन रह जाता है। इसलिये उसके तीनों चरित्रों में वह मध्यम चरित्र को अधिक रुचिकर समझकर महिषासुर के वध का वर्णन ११६ छन्दों में करके पुस्तक समाप्त करता है।
२ यह छन्द।

उक्त सात शतकों में कौन अधिक स्तुत्य है, काव्य की दृष्टि से कौन अधिक प्रशंसनीय है, यह अपनी-अपनी रुचि की बात है। परन्तु इस स्थल पर मैं उस छन्द के विषय में विचार करना

चाहता हूं जिसका प्रयोग कवि ने इस ग्रन्थ में किया ह । अनूप जी एक प्रसिद्ध घनाक्षरी-लेखक हैं । अब तक उन्होंने ११।१२ सौ घनाक्षरियां मातृ-भाषा के चरणों में अर्पित की हैं । अतएव इस छन्द के इतिहास पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक ज्ञात होता है ।

घनाक्षरी छंद एक प्रकार का दंडक है, परन्तु है गणात्मक रचना से मुक्त । इसीलिए इसको मुक्तक भी कहते हैं । यह छन्द हिन्दी का अपना छन्द है तथा किसी प्राचीन भाषा--संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश---से नहीं लिया गया है । डा०मनोज* की खोज के अनुसार यह छन्द संभवतः १४वीं शताब्दि में किसी हिन्दी कवि द्वारा रचा गया होगा जिसको आज ७०० वर्ष हो गए । मानों इसी छन्द की सप्तशती मनाने के लिए ही अनूप जी ने यह ग्रन्थ ७०१ छन्दों में लिखा हो । यह छन्द अधिकतर कवित्त के नाम से प्रसिद्ध है, जो शब्द अपभ्रंशकाल में छप्पय के लिए प्रयुक्त होता था । डा० मनोज की खोज में प्रथम-घनाक्षरी-लेखक किसी सेन कवि का नाम तथा उसका छन्द प्राप्त हुआ है लेकिन उनका अनुमान है कि सेन कवि के पहले भी इस छन्द की रचना अवश्य होती होगी क्योंकि सेन कवि का छन्द प्रौढ़ ज्ञात होता है । सेन-कवि का रचना-काल सं० १५६० वि० है अतः पृथ्वीराज रासो (जो १२वीं शताब्दी म बना) के बाद ही इस छन्द का अवतार हुआ होगा सेन कवि अवश्य ही कोई अच्छे संगीतज्ञ अथवा मार्दंगिक होंगे क्योंकि घनाक्षरी छन्द ध्रुपद ताल पर बहुत अच्छा बैठता है । जो भी हो, यह छन्द हिन्दी साहित्य के निर्माण में बहुत कुछसहायक रहा । सूर तथा तुलसी से लेकर रत्नाकर तक हिन्दी के कवियों ने इसको बाहुल्य से अपनाया तथा सेनापति, देव, पद्माकर आदि कवियों ने इसको चरम सीमा तक पहुंचाया है । परन्तु खड़ी बोली में इस छन्द का

---

* डाक्टर जानकी नाथ सिंह, "मनोज", रईस, बिसवाँ, सीतापुर ।

प्रयोग सबसे अधिक सफलता के साथ अनूप जी न ही किया, यह बात सर्व-सुम्मत है। प्रांजल भाषा तथा शुद्ध व्याकरण अनूप—काव्य की विशेषताओं में से हैं और कठिन भावों को लाघव के साथ भाषा के आवरण म परिवर्तित कर देना अनूप जी का ही काम है। उनकी कविता को पढ़ कर यह कहीं अनुभूत नहीं होता कि केवल तुकान्त के लिएही, पद्माकर की भांति, उनको नये शब्द गढ़ने पड़े हों या, रत्नाकर की भांति, भावों को टेढ़ा-मेढ़ा बनाना पड़ा हो।

३ यह कवि।

अनप जी की कविता पर विस्तृत समालोचना लिखने का यह स्थल नहीं है आज हिन्दी—साहित्य में सभी लोग उनको जानते हैं। उन्होंने 'सुनाल' लिखकर सवैया छन्द में एक नवीन परंपरा स्थापित की और उक्त छन्द में धारा—प्रावाहिक कथानक लिखा। उन्होंने सिद्धार्थ (महाकाव्य) लिखकर अक्षय्य यश प्राप्त किया। आजकल वह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों के बी० ए० तथा एम० ए० में पाठ्य पुस्तक है। उन्होंने 'फेरि मिलिबो' (चम्पू) लिखकर ब्रजभाषा की महत्ता व कीर्ति दुगुनी की। उक्त ग्रंथ पर देव-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। तथा, 'सुमनांजलि' लिखकर हिन्दी-साहित्य के इतिहास (पं० रामचन्द्र जी शुक्ल कृत) में अपना स्थान सुरक्षित किया। उस पुस्तक में उन्होंने ३५० घनाक्षरियाँ लिखीं जो अत्यधिक प्रशं-सनीय हैं। प्रस्तुत पुस्तक, 'शर्वाणी' मेरी दृष्टि में उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है।

अनूप जी एक सांस्कृतिक कवि हैं। साहित्य के विषय में उनके वही मत ज्ञात होते हैं जो हमारे कवि—चूडामणि तुलसीदास जी के थे। वही "नाना-पुराण-निगमागम सम्मत" वही तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।' वही "कविहि अरथ-आखर-बल सांचा" तथा वही, "बाल्मीकि कवि पुंगव नाना," वाली धुन अनूप जी की भी ह। उनकी कविता में भारतीय संस्कृतिके विरुद्ध आपको कुछ प्राप्त न होगा। समय के प्रवाह में वह बहते नहीं, फिर भी समय की

छाप उनकी कविता पर है अवश्य । भारतीयता के विरुद्ध न जाना ही उनकी मातृ-भूमि-सेवा है तथा मातृ-भाषा के भांडार को बढ़ाते रहना ही उनकी अन्यतम तपस्या है।

अतएव अब अधिक न लिख कर पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे इस रससिद्ध ग्रन्थ को पढ़कर आनन्द में तरंगित हों। कहना न होगा कि इस ग्रन्थ के अधिकारी पाठक केवल काव्य-निष्णात समालोचक, कल्याणेच्छुक कविगण,तथा श्रद्धावान् शाक्त ही हो सकते हैं। "माऽस्मिन् खलः खेलतु"।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी
सँ० २००४ वि०

विश्वनाथ मिश्र,
एम० ए०, साहित्याचार्य।

इस परिच्छेद में कवि ने भाँति भाँति से श्री भगवती की प्रार्थना की है। ९९ छन्दों में प्रार्थना करने का उसका मंतव्य यही ज्ञात होता है कि स्तुति चाहे जितनी की जाय वह फिर भी न्यून ही रह जाती हैं अथवा यों समझिए कि सांसारिक ९९ के फेर से यह स्तुति-विषयक ९९ का फेर अधिक लाभदायक है; क्योंकि प्रार्थना से आत्मा शान्त और पवित्र बनती है। प्रार्थना संसार की कठिनता पर विजय प्राप्त कराती है और प्राणी को अपने पंख पर स्वर्ग तक पहुँचाती है। मुख से की गई स्तुति से अपनी आत्मा तथा मन से की गई प्रार्थना से संसार की आत्मा प्रसन्न होती है।

सारे परिच्छेद में कवि-प्रतिभा की दो प्रवृत्तियां स्पष्ट दृष्टि गोचर होती है। उन दोनों प्रवृत्तियों के पंखों पर कवि की कल्पना उठती है। कहीं तो वह प्रतिमा वर्तमान रहस्यवादियों की भांति सूक्ष्म भावों का आश्रय लेती है

और कहीं प्राचीन कवियों के अनुसार भगवती के नखशिख का आश्रय लेकर उठती है। कहीं कवि कुशल चित्रकारों की भांति देवी के चारु चित्रों को अंकित करता है और कहीं २ रहस्यवादी शाक्तों की प्रणाली का अनुसरण करता है। यों तो यह समस्त ग्रंथ स्तुति के अतिरिक्त और है ही क्या ? परन्तु इस परिच्छेद की विशेषता केवल प्रार्थना में ही है जिसको कवि ने अपनी आलंकारिक भाषा के प्रभाव से अत्यधिक रोचक बना दिया है।

भक्ति की पराकाष्ठा प्रार्थना में है और प्रार्थना की अंतिम सीमा वह प्रेम, जो इष्ट देवता के चरणों में भक्तों के सुमनों को अर्पित कर देता है।



शर्वाणी

१—तेरे हेतु बहु-विनयावलि-निगुंफन[1] में
गर्व-हीन होकर विरंचि हार जाते हैं।
एक भी न चलती गिरा की गति वंदन में
गिर वचनों पै भूरि भाव-भार जाते हैं।
तो भी परिफुल्ल-नील-नलिन-विलोचना तू
तेरे दृग जिन सेवकों पै वार जाते हैं।
वह गुण गाते सुख पाते न अघाते कभी
संसृति अपार के अवश्य पार जाते हैं।

२—अंब ! तू अनन्त-शक्ति, दुर्ग-नाशिनी है, चंडि !
सर्व-मंगला है, विभवा है, विश्व-कारिणी।
रक्त-बीज-हामिनी है, चंड-मुंड-त्रासिनी है
विन्ध्य-गिरि-वासिनी है, संसृति-प्रचारिणी।
धूम्र-मर्दिनी है, योधनावृतकपर्दिनी[2] है,
छवि-छर्दिनी हैं, कवि-प्रतिभा-प्रसारिणी।
निपट अधीन-दीन-विपति-विदारिणी है
शक्ति-धारिणी है, भक्ति-विपिन-विहारिणी।

१-आबद्ध करने में। २-युद्ध के लिए जटाजूट बाँधे हुए।

३—दग्ध रति-पति को स-जीव करने को फिर
अपने कटाक्ष में अमृत-रस साजती।
क्षीर-तुल्य श्वेत मुसकान की उषा से नित्य
सज्जित - उरोज - गिरि - गरिमा विराजती।
सकल जनों की मुख-भूषण-स्वरूपिणी[1] तू
वाणी की परम देवता-सी भूरि भ्राजती।
शंकरीय शैल के शिखर पर शोभनीय
मूर्तिमती करुणा प्रसन्न-चित्त राजती।

४—प्रौढ़-तम-पुंज के निकुंज में प्रफुल्ल-प्राय
कैरव-कदंब[2] अविराम अंब! हँसता।
चारु चंद्रिका के भी प्रकाशमान होते हुये
चक्र-वाक-मिथुन सदैव संग लसता।
श्याम यमुना की अभिराम वीचियों से युक्त
कर नयनों में परिचालित सरसता।
यों ही निशि-वासर त्रिलोचन के लोचनों में
आपके त्रिरूप का महोत्सव विलसता[3]।

५—यद्यपि अचल रहती है दिन-रात तो भी
मारुत[4]-गणों को रचिणी-सी भान होती है।
अपनी समस्त तेज-संचय-सुयोग्यता से
रवि-कर जीत शक्ति-सावधान होती है।
शंभु-शैल-शिखर-विभासित तथापि सदा
जिससे अशेष भूमि ओजवान होती है।
वह छबि-छाती भक्त-मन को बुझाती हुयी
कौन दीप-ज्योति यों प्रकाशमान होती है।

१-मुख को अलंकृत करने वाली। २-समूह। ३-यह छन्द आधु रहस्यवाद के रंग का है। ४-देवता या वायु।

६—अति अभिराम चारु चिक्कण चिकुर-व्याज
चंचरीक-अवली अनूप जहाँ पोही है।
श्वेत-पुष्पवान मंद-मंद मुसकान-मिस
प्राप्त हुआ मान जिससे कि कुंद को ही है।
पल्लवित होती पद-पंकज-प्रभा से जो कि
आभा से उरोज की फलित बन सोही है।
सर्व-सुख-संयुत हिमालय के आलय में
सिद्धि-जन्म-भूमि कृपा कंदली[1] प्ररोही है।

७—राका - चंद्र - सदृश प्रकाशित वदन - छबि
अमर-गणों से अभिनंदित विराजती।
तेरी ही कृपा से भक्ति-युक्त कवियों की सदा
भारती[2] अबाध सुर - सरि - गति राजती।
मूर्तिमती पुण्य की परंपरा त्रिलोचन की
बनकर शंभु - शैल पर अंब ! भ्राजती।
एरी विश्व-मायिनी ! परम-पद-दायिनी तू
विभव-विधायिनी अनंत-शक्ति साजती।

८—जन्म लिया जिसने हिमालय के आलय में
एक-मात्र सुकृती-जनों को दृष्टि आती जो।
ध्यान धरते ही एक पल में विपल में ही
तीनों लोक-ताप मूल-सहित मिटाती जो।
अचरज एक, खेल करती अनेक तो भी
अचलायतन[3]-मध्य अचला लखाती जो।
पुण्य-तटिनी है वही करुण-कबंध[4]-भरी
मानस - सरोवर - समान लहराती जो।

१-बेलि। २-वाणी। ३-हिमालय का घर। ४-जल।

९—ऐक्य-भाव लाती हुयी शंकर-शरीर-मध्य
दंपति - प्रभाव परिपूर्ण प्रकटाती है।
जिसके चकाचक[1] चिकुर-चूड़-मध्य चारु
रेखा चंद्रमा की स-विशेष सरसाती है।
और, जो कि अपनी समुच्च साधना से सदा
हिम-सानुमान[2] को भी उन्नत बनाती है।
शैल-नंदिनी सो दास-दुरित-निकंदिनी सो
विश्व-वंदिनी सो काव्य-अंकुर उगाती है।

१०—आती है श्रवण-तक सुषमा विलोचनों की
कुच-गरिमा भी बाहु-मूल तक जाती है।
अति अभिराम वदनारविन्द की जो छवि
वह निशि-बासर सरोज को लजाती है।
तेरी गिरा-गत-गरिमा में जो मधुरिमा है
वह भी मरालिनी का मान बिचलाती है।
केसरी-अरोहिणी[2] अशिव-द्रोहिणी हो, अंब!
रोहिणी त मंगल-प्ररोह[3] उपजाती है।

११—चंद्रमा द्वितीया का विराजमान मौलि-मध्य
अजिर गिरीश का अनूप क्रीडा-स्थल है।
सुषमा शरीर की सुनील इन्द्रनील[4]-तुल्य
श्रवण - समीप - तक लोचन सचल है।
निद्रित नलिन[5] से उरोज अति आभा-भरे
चिकुर-समूह से वलित जानु-तल है।
ऐसी, अंब ! आकृति बनाती जिसको है धन्य
उस सुकृती का भाग्य भूरि[6] है, प्रबल है।

१-हिमालय। २-चढ़ने वाली। ३-पौधा। ४-एक नीली मणि ५-कमल। ६-शंकर।

१२—तू ही जगदम्ब ! मम प्राकृत गिरा को, अहो !
भक्त-जन-केलि-सौध[१]-सरणि[२] बनाती है ।
अन्य-कवि-वृन्द-सूक्ति-लहरी-स्वरूप-शस्य
शाश्वत सुकृत-क्षेत्र-मध्य उपजाती है ।
उच्च-विश्व-केतु-मीन-केतन[३]-निकेतन पै
पौरुष की प्रबल पताका फहराती है ।
दिव्य द्युति देह की, मृडानि ! मेरु-मूल-मध्य
प्रकटन-शील इन्द्रनील को लजाती है ।

१३—संध्या के, दिवस के, प्रभात के, उषा के तथा
यामिनी के चारु चल-चित्र की चितेरी है ।
तेरे अति-आयत सुयश-सरसीरुह पै
करता गगन-चंचरीक नित्य फेरी है ।
मान पा रही है जिस छवि से घृताची शची
वह भवदीय पद-पंकज की चेरी है ।
सिद्धिदा घनेरी है, प्रसिद्धि बहुतेरी, अंब !
अन्त-गति[४] मेरी है, अनन्त गति तेरी है ।

१४—कटि-तट-किंकिणी रणन[५] करती है चारु
पद-गत-हंसक[६] स-मोह घोष भरते ।
होते अति उन्नत उरोज-हार-भार-युक्त
बाहु में वलय[७] शोभा-संयुत बिहरते ।
युगल-श्रवण कांत-कुंडल-कलित जब
द्विगुण ललाटिका[८]-प्रभा की कोटि करते ।
देख के मुकुट शिरोभूषण-समेत मंजु
काम-शत्रु शंभु काम-मित्र से सिहरते ।

१-महल । २-सीढ़ी । ३-कामदेव । ४-अंतिम गति । ५-शब्दित ।
६-बिछुए । ७-चूड़ियां । ८-बिन्दी ।

१५—विद्या तू परा है, मुनि-जन-मन-मोहिनी है,
काम-कला-कारिणी परम रसवन्ती तू ।
इन्द्रनील-मणि-सी सुनील द्युति देह की है
हिम-गिरि-गामिनी है पवन बसन्ती तू ।
लीला - परतन्त्र - तन्त्र - नायक महेश्वर की
हृदय-दरी में सिंहनी-सी निवसन्ती तू ।
प्रतिदिन प्राची में उषा-सी तू हसन्ती, देवि,
पश्चिमा दिशा में संध्या-सदृश लसन्ती तू ।

१६—अपनी पयोद-नील-देह-कान्ति द्वारा अंब !
अतसि¹-प्रसून को, तमाल को निदरती ।
प्रणत-जनों के लिए कल्प-वल्लरी हो सदा
सिद्धि की समृद्धि से भवन भूरि भरती ।
काम-रिपु-कामिनी सकल-जग-स्वामिनी तू
गज-गति-गामिनी गिरीन्द्र पै विचरती ।
कुल-कामिनी पै बरसाती है त्रपा² की धार
सुकवि जनों पर कृपा की ढार³ ढरती ।

१७—सौम्य सुजनों के मन मोद भरती है सदा,
जननि ! असीम है, अनादि है, अनन्त है ।
अमित असित देह - सुषमा - विलास - द्वारा
रचती पयोधर⁴ - पटल - रुचि - अंत⁵ है ।
अति - रति - रंजित गिरीश - चित्त - कानन में
करती कलित काम - कौतुक - वसन्त है ।
अंब ! युग चरण - शरण - परिणाम - रूप
साधु मुग्ध-मानस, प्रसन्न-चित्त संत है ।

१-अलसी । २-लज्जा । ३-झुकाव । ४-मेघ । ५-ह्रास ।

१८—ललित कला है कि कला की लोल लीला, अंब !
या कि कला लीला की महान-रम्यशाला है।
कवि - कुल - वचन - कुमुद - बन - सिंचिनी कि
शरद-सुधाकर-प्रभा की मंजु माला है।
नील-मणि-आभा नष्ट करती कचों से या कि
कोई आदि-अंत-हीन सुषमा विशाला है।
पुण्य-गंध-हारा कि सुकृत समाहारा[1] मंजु
गिरि[2]-सुख जाला या कि गिरि-मुख-ज्वाला[3] है।

१९—मरकत-आभा से असूया[4] करती है ज्योति
स्नेह - युक्त होकर पतिव्रत - जली-सी है।
युगल चरण - नख - चंद्र - किरणों से सदा
अमर - मुकुट - झारि[5] होती उजली-सी है।
जिसकी अखंड-छबि-जनित-प्रभा से आज
मेरे अंध-तामस[6] की गुरुता दली-सी है।
वह रुचि-राशि हिम-गिरि के निकेतन की
अति अभिराम मणि-दीपक-कली[7]-सी है।

२०—हृदयानुमोदित – प्रसन्न – अट्टहास – युक्त
सुजन - नयन - मोद - जननी लसी - सी है।
अपनी प्रफुल्लित प्रभा से मेघ-मंडली की
कान्ति अवरुद्ध करने को उभरी-सी है।
विरत महान भगवान भूतनाथ के भी
चित्त को तरल[8] करने में न थकी-सी है।
कौन यह सुघर महान दिव्य ज्योति-राशि
हिम-गिरि-शिखर विराजी बिजली-सी है।

१-समूह । २-हिमालय । ३-ज्वालामुखी की शक्ति । ४-घृणा । ५-झुण्ड । ६-घोर अंधकार । ७-लौ । ८-चंचल ।

२१—मंद मुसकान अभिराम, अंब ! आनन की
उज्ज्वल अमृत - फेन - सुषमा समान है।
हँसती सदैव नील - कमल - प्रभा पै जो कि
देख-देख विकच कुमुद-छबि म्लान है।
विनत जनों पै बरसाती चंद्रिका की ज्योति
केवल न इन्दु-मौलि-इन्दु छबिवान है।
अपितु बढ़ाती सो त्रिलोचन के लोचन की
सुभग सुकृत - फल - महिमा अ-मान[1] है।

२२—सेवक-जनों पै कृपा-धारा बरसाती सदा
सुकवि-जनों की प्रतिभा को दीप्त करती।
विश्व-दग्ध मानव का ताप हरने के लिए
हिम-गिरि-शिखर निरन्तर विचरती।
विपदा-विनाशिनी गिरा की मूल-संपदा है
शंभु - महाराज्य - पदवी - सी है प्रसरती।
ए री पद - हासित - जलज - युगली[2] भवानि !
तेरी शक्ति भक्ति-मेघ-मंडली-सी झरती।

२३—अंकित मृगांक से हैं चिक्कण-चिकुर-चूड़
चुंबित अमर - गण - भाल से चरण हैं।
दक्ष सीख देने में भ्रमर-सुषमा को यह
कुटिल कटाक्ष तेरे ताप के हरण हैं।
वक्ष पर शोभित - सहित - समाहार - हार
नवल निचोल काम - सृष्टि - संवरण हैं।
गिरिजे ! विषम-शर-वीर-केतु-चीर[3] तू ही
हीर[4] हृदयाधिनाथ तेरे ही शरण हैं।

१-अमित । २-जोड़ी । ३-कामदेव के झंडे की पताका । ४-शंकर

२४—सीख दे रहा जो चंचरीक-चारुता को, देवि
तेरा सो कटाक्ष मेरी विपति विदार दे।
अमर-पुरी की सरि-वीची करती जो तुच्छ
ऐसी वाक्य-लहरी हमारी तू प्रसार दे।
जन्म-अभिशाप-दग्ध[1] मानस को शीत कर
ताप की त्रयी को शैल-नंदिनि ! सँहार दे।
हार[2] दे विजय का, विहार दे स्व-धाम-मध्य,
मार दे अनिष्ट इष्ट-भावना प्रचार दे।

२५—इन्द्र - यम - वरुण - कुबेर की मुकुट - राशि
अति - अभिराम - पाद - पीठ जो बनाती है।
आदिकवि-कालिदास-सूर-तुलसी की गिरा
जिसमें स्वकीय श्रेय अतुलित पाती है।
जिससे तडित को तरल मिलती है छटा
मणि-गण की भी छवि पाटल[3] लखाती है।
तू हो वह दिव्य-ज्योति-हिमगिरि-अंगन में
अमिता असीमा भाग्य-सीमा सरसाती है।

२६—चिक्कण - चिकुर - मध्य - गत - चंद्रमा को, चारु-
चंचरीक - चलित - चतुर - मुख - वाली को।
चंचल - अपांग - लीला - ललित - विलोचना को,
भृंग - यूथ - तुल्य - कृत - कुंतल - प्रणाली को।
कुन्द-हसिता को, कुच-भर[4]-लसिता को, तथा
वचन-सिता[5] को, शंभु - मानस - मराली को।
होकर विनत मैं प्रणाम करता हूँ, उस
कवि - कुल - कल्प - लतिका - सी भद्रकाली को।

१-जन्म लेने के दोष से दूषित। २-माला। ३-लाल रंग की। ४-भार।
५-मिश्री। अर्थात् जिनकी वाणी मिश्री के तुल्य मधुर है।

२७—उरसिज - निकट - विहार - हार - चातुरी को
द्रुत हृदयंगम सदैव कर लेती है।
अति अभिराम अरविन्द के निकर का भी
युगल-दृगों में पारिपन्थ्य[1] भर लेती है।
अपनी अमोघ रुचि-द्वारा मेघ-मंडली की
नील सुषमा को सब भाँति हर लेती है।
कैसे अनवद्या तू विशेष वर विद्या, अंब !
कोक-द्वेष सिर पै स-प्रेम धर लेती है ?

२८—चूर करती हुयी मयूर-पक्ष की भी छटा
हैमवती[2] लीला बहु बार प्रकटाती है।
अंब ! जन्म-भूमि तू अनंत करुणा की तथा
जड़िमा[3]-वनस्थली की दाव-सी लखाती है।
परम - मधुर - काव्य - चातुरी - पिकी के लिए
मंजु - सहकार[4] - रेणु[5] - तुल्य सरसाती है।
माधुरी - निकेतन अनूप मीन - केतन की
विद्या के समान दृग-पथ में समाती है।

२९—बार-बार अधिक-अधिक अनुकूलता से
मेरी कविता को दृढ़ता दे देवि ! तरुणा।
वाक्य-लहरी हो उल्लसित मुख-मंडल में
शंकर-दया से असी[6] बार बहे वरुणा[7]।
मेरे महा दुष्ट प्रतिकूल परिपंथियों में
जाग पड़े ज्वाला भस्म-कारी मुख-अरुणा।
जननि ! सदा हो प्रसरित मुझ सेवक में
तेरी अभिराम सुधा-सिंधु-भरी करुणा।

१-शत्रुता। २-हिमालय-संबंधिनी। ३-जड़ता। ४-आम्र। ५-पराग।
६-असी (अर्थात्) अनन्त। ७-वरुणा और अस्सी वाराणसी बनाती हैं।

३०—चरण-विनत सेवकों के मन चंचल में
अमित अचंचल प्रसाद भरती हुयी।
लोल नील चिकुर-समूह से विजित जो कि
उन भ्रमरों पै मधु-मेघ झरती हुयी।
दूर वचनों से जो निकट शिव-लोचनों के
वह शशि-छबि सिर पर धरती हुयी।
भूरि-भाग्य-सीमा सो तुहिन-पृथु-शेखर[1] की
राज रही आज विश्व-राज्य करती हुयी।

३१—संसृति-निगड़ से ग्रथित मति की जो गति,
जो कि एक-मात्र बुद्धि दीन विनयी की है।
और अंध-तामस-निरोध की विरोध-विधि
त्रिजग-प्रसविनी जननि जो सभी की है।
जो कि अभिलषित-समूह-लतिका है तथा
पुण्य-पत्र-वाली ध्वजा भृंग[2] विजयी की है।
करता प्रणाम उस जीवन-कली को, जो कि
सुमन-शरासन-विनाशन सुधी की है।

३२—काल-अंबुदों में शशि-रुचि केतकी के दल
अति अभिराम छबि-धाम जो दिखाती है।
मध्य में अनूप घन-वल्लरी लसी है जहाँ
मालिका मधुव्रत की सुखद सुहाती है।
हंस-चय-मंजु विकचित सरसीरुह के
सुभग-समूह में समुच्च-स्वर गाती है।
मानस-सरोवर के निकट अनूप आज
दिव्य करुणा की सौम्य संपदा लखाती है[3]।

१-हिमालय। २-कामदेव। ३-अतिशयोक्ति। उपमानों द्वारा उपमेय को अनुमिति।

३३—कितनी अनूप, अहो ! तुझ में विचित्रता है
निज मृदुता से पल्लवों का मान हरती।
पुण्य-पुरुषों की सभी कामना प्रपूरित हों,
चिंता ही मिटे न एक, ऐसा गुण धरती।
जलनिधि से न हुयी प्रकट कदापि, अंब !
शैल-तनुजा है शैल-क्रोड[1] में विहरती।
एक अद्वितीय रूप वाली रंग वाली चारु
चिंतामणि-सदृश, शिवे ! तू कृत्य करती।

३४—लोल और नील मंजु मेघ-मंडली के मध्य
ताम्र-सरसीरुह प्रफुल्लित लखाता है।
ताम्र-सरसीरुह के मध्य में पराग-युक्त
राग-पुष्प अपना प्रसार प्रकटाता है।
राग-पुष्प-मध्य मल्ली-कुसुम विराजमान
मल्ली में विपंची-स्वर सुभग सुनाता है।
उस स्वर में है काम-रिपु-कामना की तान
ऐसा इन्द्रजाल किसको न सुख-दाता[2] है।

३५—हरिणी अहन्ता[3] की अतीव चपला है, अंब !
मेरे ज्ञान-शस्य को हठात्[4] चर जाती है।
इसको भगा दे तू स्वकीय दृष्टि-पात-रूपी
श्याम उपलों[5] से, जिन्हें देख डर जाती है।
अकथ कहानी तेरे कुटिल कटाक्ष की है
जिस सुकृती में यह घर कर जाती है।
उसकी न होती अवरुद्ध गति मंदर[6] में
सिद्धि की समृद्धि से भवन भर जाती है।

१-गोद । २-पर्य्याय से मुख-मंडल की शोभा का वर्णन । ३-अभिमान ।
४-बरबस । ५ पत्थर ६-मंदराचल (स्वर्ग)

३६—अमर - समाज - समाहार - अंश[१] राजता है
चातकों के एक - मात्र संशय - सदन में।
और, अंतरिक्ष पर अतुलित सोहता है,
अजर - समूह - तुंग - गेह देह - बन में।
अति अभिराम वहाँ मानस-सरोवर है
उदित उषा-सी मुसकान मुग्ध मन में।
विचर रही है कवियों की कामधेनु-तुल्य
क्षीर - सम - आभा - भरे मदन - कदन में[२]।

३७—अपने विलोचनों की गति से स-गति[३] कर
धरती करों में वैजयन्तिका मदन की।
अपने पदों के मोक्ष-दायक प्रसाद-द्वारा
हरती विषण्णता[४] विनीत दीन जन की।
अपने अनूप मृदुहास के विलास से ही
दरती युगान्त-नृत्य-ग्लानि शंभु मन की!
अपने दृगों से चरणों से मुसकान से तू
करती विनष्ट है त्रिताप त्रिभुवन की!

३८—मन से अदूर है, सुदूर वचनों से अंब!
भूरि भव-सिंधु की अमज्जनीय[५] तरणी।
काम-क्रोध-मोह-विष-वृक्ष-अटवी के लिए
ए री महाशक्ति! तू अदमनीय अरणी।
शक्त गायकों से है अगेय अमिताभ छबि
भक्त-कवियों से भी गयी न कभी बरणी।
विश्व-अनुरंजिनी तू, चंड-मुंड-भंजिनी तू
रम्य तेरी प्रकृति, अदम्य तेरी करणी।

१-चन्द्रमा। २-पर्य्याय से मुख-छबि तथा मुसकान का वर्णन है
३-चंचल। ४-खिन्नता। ५-न डूबने वाली।

३६—जिसके भवन में विराजी स्वामिनी हो, अंब !
वह मेरु-धन्वा[1] की उपाधि उच्च पाता है।
फैल गया जिस सुकृती पर त्वदीय कर
विभव उसी का इन्द्र-सदृश लखाता है।
तेरे नेत्र-कोण से निकल पड़ता है ज्ञान
जो कि रति-पति-गति-वेद[2] का विधाता है।
भूरि-भव-भोज वह, सुखद सरोज वह,
मृदुल मनोज वह ओज दृष्टि आता है।

४०—अहह ! त्रिलोक की महान ध्यान-मुद्रा-युक्त
एका विश्व-माता तेज-संयुता विशाला है।
धारणावधारित[3] गिरीश-चरणों में सदा
ध्रुव हृदयान्तर - निरुद्ध - व्रत - ज्वाला है।
तालपत्र - मणि - रुचि - ताम्र हैं कपोल कर्ण
दृष्टि त्रिकुटी में भव-भेद-विकराला है।
झलक रही है अरुणाभा तरुणाभ अंग
मूर्ति तप-शाला है कि हिम-शैल-बाला है।

४१—हृदय-कमल योगियों का जिस देवता की
वाटी सुख-धाम अति कोमल सुमन की।
सतत - शिशिर हिम - मय शुचि - शीकरों से
पीठी जिसकी है अति छादित भवन की।
श्रुति—परिचालित—वदन—रत्न—राशि—मयी
पेटी जिसकी है हर-भूषित-मदन की।
वह अभिराम सोमाभरण[4]-विलासिनी तू
पूर्ण करती है अभिलाषा भक्त-मन की।

१-मेरु नामक पर्वत है धनुष जिसका; अर्थात् शंकर। २-काम-शास्त्र ३-धारणा-अर्थात् ध्यान में स्थित। ४-शंकर।

४२—मंद-मंद मंथर प्रयाण से त्वदीय गति
युग कर वाली करिणी को भी लजाती है ।
कुन्द-इन्दु-श्वेत-हास-भास से विलास-प्रद
मद-परिणति[1] अर्क-गुच्छ[2] को गिराती है ।
मनसिज-पादप के छवि-मय अंकुर से
अंकित उरस्थलवती तू दृष्टि आती है ।
अंब ! जगदम्बिका तू, जगदवलम्बिका तू
विकट-नितंबिका तू निकट लखाती है ।

४३—आभा अभिराम अंब आनन-सरोरुह की
चंद्र चातुरी को चूर करती विचरती ।
चूड़ा में अलंकृत अनूप अरविन्द को भी
मृदु अनुराग का पराग है वितरती ।
मंद-मंद हास उर-जनित विकास पर
डालकर भास इस भाँति अनुकरती ।
मानों मेरु-मंदर के मध्य रोहिणी की छवि
संज्ञा[2] की प्रभा के संग खेलती विहरती।

४४—शंकर जटा के बन-व्योम में विराजमान
इन्दु में सुरंग संध्यारुण धर देते हैं
ललित विरंचि-भामिनी के भी ललाट-मध्य
सुभग सिंदूर का सुहाग भर देते हैं ।
लाते लालिमा हैं विष्णु के भी वाम लोचन[3] में
मान-मद इन्दिरा का सब हर देते हैं ।
अंब ! तेरे पद सरसीरुह पराग-पुंज
भक्त-भावुकों को मधुकर कर देते हैं ।

१-मद की पूर्णता । २-सूर्य्य की स्त्री । ३-वामांग इंदिरा का होने के कारण ।

४५—प्रकटित रुचि जिसकी है कुरुविन्द-तुल्य
अरुण प्रभा से अमिताभ शोभमाना है।
जो कि प्रदलित-पद्माधार-कमला है मंजु
अस्त-गिरि तक भी स-बोध सावधाना है।
परिणति-परम प्रकाश-उदया है, तो भी
करती सुषुप्ति पार बहु व्यवधाना है।
वह पर-पद-चन्द्र-निःसृत सुधा से आर्द्र
अंब ! तू प्रतीची के समान भासमाना[1] है।

४६—प्रकृति-कुटिल पाप सत्वर विनाशती है,
निज-पद-विनत जनों की एक-माता है।
तेरा शरदिन्दु-शुभ्र-हास अति रंजन में
प्रलय-प्रभंजन में सृजन-विधाता है।
महित-महामुनि की मानस-नटी तू, अंब !
चंद्र से स-शेखर[2] चिकुर-पाश भाता है।
क्षेम-सृष्टि रचती सदा ही सेवकों के धाम
हेम-वृष्टि-द्वारा दास-गेह भर जाता है।

४७—धन्य-धन्य गति उनकी है जिनकी तू मति,
जिनकी गिरा की गरिमा में तू विहरती।
निन्द्य परिपंथियों[3] का भेद[4] करती है सदा
छेद[5] करती है पाप, स्वेद भी न धरती।
साधु मधु-माधुरी-प्रभंजिनी प्रथा से सदा
मेरी कविता में मंजु प्रीति-रीति भरती।
जिससे प्रसूत रस-धारा स्वच्छ पारा-तुल्य
देव-गंग-धारा का प्रसारा[6] भी निदरती।

१-पार्वती का रूपक पश्चिम दिशा से किया गया। २-विचित्र वाक्य-योजना है। केश-पाश के ऊपर चन्द्रमा प्रकाशित है। ३-शत्रुओं। ४-छिन्नता-भिन्नता। ५-नाश। ६-प्रसार।

४८—शैल-नंदिनी ही है न त्र्यम्बक[1] कुटुंबिनी भी
केवल त्रिपुर-सुन्दरी न, विश्व-कारिणी।
एक इन्दिरा ही न पुलिन्द-पति-सुन्दरी तू
अपितु त्रिपुर-भैरवी है चक्र-धारिणी।
अथवा हिमाद्रि-कन्यका ही नहीं, भारती भी
एक-मात्र चंडिका न, विन्ध्य-शृङ्ग-चारिणी।
सर्व-मंगला ही न, मतंग-कुल-कामिनी, तू
चंड-मुंड-हारिणी तू महिष-प्रहारिणी[2]।

४९—जननि ! निखिल-लोक-रक्षिका सदैव तू ही
सर्व - सुख - दायिका निगूढ़ - करुणा - भरी।
मदन - कदन - प्रेयसी है सुख - राशि तू ही
त्रिगुण - गरीयसी कवीन्द्र - हृदये - चरी।
घन - कुच - तट - विघटित - कंचुली है चारु
चंचली कृतास्थिमाल - भूषण - प्रभा - भरी।
महिमा - महीयसी तू, मानस - दवीयसी[3] तू
अतसि - प्रसून - रंग - रंजित महेश्वरी।

५०—मानस-विपिन-मध्य दौड़ा करता है सदा
हृदय हमारा दुष्ट चंचल वितुंड[4] है।
विश्व-रस-निधि[5] में अदम्य अवगाहता है
रमता जहाँ पर विषय-द्विप[6]-झुंड है।
बाँध ले तू इसको कटाक्ष के निगड़[7] द्वारा
चारों ओर व्यर्थ ही चलाता ज्ञान-शुंड है।
स्थाणु[8] तेरे सम्मुख, इभारि[9] तेरा वाहन है
चंड[10] चरणों में, कर-मध्य शत्रु-मुंड है।

१-शंकर। २-छन्द में आये हुए प्रायः सभी नाम उमा के हैं। ३-दूर तर (हृदय से भी) ४-हाथी। ५-समुद्र। ६-हाथी। ७-शृंखला। ८-खूंटा या शिव। ९-सिंह। १०-दैत्य विशेष।

५१—नेत्र-रुचि-द्वारा शरदम्बुज हुए हैं जित
केश-रुचि-द्वारा परिभावित घनाली[1] है।
कर-रुचि-द्वारा नीर-मज्जित मृणाल हुये
पद - रुचि - द्वारा वन - मध्य - गत व्याली[2] है।
मुख-रुचि-द्वारा कलाधर को मिली है कला
कुच-रुचि-द्वारा बनी श्री-फल-प्रणाली है।
हो रही महान तू महित-रुचि-हारावली
तेरी कृपा-धारावली सुरुचि निराली है।

५२—अंब ! त्रिपुरा तू सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तेरा रूप
देवि ! दिव्य लीला-रम्य-निलया महान है।
जननि ! त्रिकोण-समाधार[3] है शरीर तेरा
प्रबल प्रकाश-युक्त मुक्त-व्यवधान है।
अहह ! त्रिलोक-महा सुषमा-पयोनिधि के
मंथन से जनित सुधा की वह खान है।
या वह समुद्यत - सहस्र - भानु - काल - जन्य
अति अमिताभ जपा - सुमन - समान है।

५३—आदिक्षान्त[4] सकल सुवर्ण-मणि से जो प्रोत
गगन - वितान - शोभा - युक्त सरसाती है।
विधि - हरि - हर - प्रतिमा से अभिकीलित जो
मंजु षडाधारा - कर्णिका - सी प्रतिभाती है।
पीत पंकजाभ नाभि-आयत सुषुम्णिका जो
मध्यम त्रिकोण से अवस्थित लखाती है।
उस ब्रह्म-अंड-अब्ज-आसना महेश्वरी की
चेतना-स्वरूपिणी की लीला सृष्टि गाती है[5]।

१-घन-मंडली। २-हस्तिनी। ३-त्रिकोण का आधार भूत। ४-अ से लेकर क्ष तक। ५-शक्ति-यंत्र के आधार पर सृष्टि-सृजन-रहस्य वर्णित है।

५४—आतम के प्रसार से अपार अवनीतल में
सारा शब्द-जाल प्रकटाता अविराम है।
करता सु-व्यक्त निगमागम-महत्त्व नित्य
भाषा-भाव-आदिक का माध्यम ललाम है।
तालों को स्वरों को व्यनुनादित बनाता सदा
पूर्ण पद - वाणी - मान - जनक प्रकाम है।
प्रभव - प्रसार चन्द्र - मंडल के सार - सम
मातृके ! तुम्हारे वाक्य-बीज को प्रणाम है[1]।

५५—तेरे दिव्य-वाक्य-भव बीज के विना, हे अंब !
मंत्र-तंत्र-लाभ किसी भाँति मिलता नहीं।
उसको विहाय व्यवहार - जाल - संसृति में
निपट पुराने पट-सा है सिलता नहीं।
जाप विना जिसके बहुज्ञता न होती प्राप्त
होती है करस्थ ज्ञान - वितति - लता नहीं।
शब्द - ब्रह्म - गेह - भूत - वदन - सरोरुह भी
मुझ सुकृती का किसी भाँति खिलता नहीं[2]।

५६—वाक्य-भव-बीज की सो अखिल प्रपंचमयी
मातृ-भूत शक्ति जो निरन्तर विराजती।
जो कि अबुधा हो, मातृका हो बनती है व्यक्त
भव - भव - विभव - पराभव में भ्राजती।
सब प्राणियों के मूलाधार में निवासिनी सो
अखिल-अविद्या-नाश-कारी रूप साजती।
जन्म - कर्म - दुरित - भयानक - अरण्य पर
ज्वलित दवानल-समान सदा गाजती[3]।

१-श्री भगवती के वाक्य-बीज का निरूपण है । २-बिना उस वाक्य-बीज के कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती । भावार्थ । ३-वाक्य-भव बीज की शक्ति का वर्णन । रहस्य शाक्तों द्वारा जाना जा सकता है ।

५७—ध्यान धरता हूँ अंब ! तेरे मध्य बीज[1] का मैं
जिसका सुवर्ण सूर्य-बिम्ब में लखाता है।
जिसका प्रभाव अविराम सब प्राणियों में
ज्ञान में, क्रिया में, इच्छा-शक्ति में समाता है।
जिसका स-दण्ड चक्र आदिम कुलाल-तुल्य
विधि-हरि-हर के शरीर को बनाता है।
रहते स्व-कर्म में नियोजित त्रिदेव सदा
जिसके प्रसार से असार[2] सार पाता है।

५८—ए री कामकूट - अधिदेवते ! तुम्हारे पद
वंदन त्रिदेव करते हैं अति मान से।
मैं भी उस काम-राज-बीज को नमन कर
निज को समादृत बनाता दिव्य ज्ञान से।
जो कि कारणत्व-आप्त-कामों को सदैव, देवि !
कार्य से समन्वित बनाता शक्ति-दान से।
और काम-क्रोध आदिकों का संप्रहार कर
अधिगत कामों को सजाता सदा मान से[3]।

५९—भक्त-काम-पूरण-विचक्षण महान जो कि
और तीनों विन्दु के प्रभाव का प्रसार है।
जो कि महाजाड्य-अंधकार के निवारण में
अद्वितीय रवि - छवि - सदृश अपार है।
प्रबल प्रबोध - प्रद जिसके प्रताप को भी
गाते श्रुति - मुख, जो त्रिमातृक - प्रकार है।
जो कि सर्व-राज-वश-कारी महाराज दिव्य
उस कामराज[4] को प्रणाम बहु बार है।

१-मध्यम बीज का वर्णन है। २-असार (संसार) सार-युक्त प्रतीत होता है। ३-कामराज-बीज द्वारा ही कारण में कार्य की शक्ति उत्पन्न होती है। काम अथवा कामना में फल-प्राप्ति की शक्ति उसी से प्राप्त होती है। ४-कामराज तंत्र के प्रभाव का वर्णन।

६०—देवि ! उस आपके तृतीय वीज का मैं अब
ध्यान धरता हूँ जो कि सौख्य का निधान है।
जिसका प्रकाश अतुलित ज्योति-पुंज-रूप
प्रज्वलित अनल - शिखावलि समान है।
विश्व-समाधार जो त्रिकोण-तुल्य होकर है
ब्रह्म-नाम-द्वारा जो प्रसिद्ध व्यवधान है।
जिसका ललाट है विभूषित-विसर्ग, जहाँ
अतुल प्रभाव ज्ञान-रूप विद्यमान है[1]।

६१—तेरी, हे मृडानि ! परा नाम की अनन्त शक्ति
विश्व - सर्ग - समय विलीन संजनन[2] में।
विन्दु-त्रयी-रूप काम-कला के सुवर्ण-द्वारा
होती है प्रकट साधु सृष्टि-संहनन[3] में।
सब प्राणियों में सब वस्तुओं में व्यक्त बन
शब्द-अर्थ-सृष्टि के निदान-तुल्य तन में।
होती प्राप्त पुण्य परा-वीज-रूपता को जो कि
ध्यान धरता हूँ उसका मैं आज मन में।

६२—तू ही अग्नि, तू ही इन्द्र, तू ही रवि, तू ही वायु
तू ही धरा, तू ही नीर, तू ही व्योम-व्यापिनी।
विधि - हरि - हर-सर्व - देवता - स्वरूपिणी तू,
तू ही असुरों की शक्ति-संचय-सभापिनी।
तू ही स-चराचर त्रिलोक की महान चिति,[4]
तू ही कार्य-कारण-स्वरूपा ज्ञेय-ज्ञापिनी।
तू ही परावीजता को प्राप्त हो प्रकट होती
तू ही विश्व-कारिणी, ! महेश्वरी प्रतापिनी !

१-'त्रिधा मात्रा' युक्त श्री भगवती का निरूपण । २-सृष्टि । ३-देह । ४-चेतना ।

६३—विन्दु-त्रय-रूपा जो विभूति अनपायिनी है
जिससे विजित - विधि - हरि - हर सारे हैं।
विद्या-कविता की जो वितान-लहरी की सरि
करता[1] प्रशस्त, आदि-अंत दो किनारे हैं।
त्रिगुण प्रवृत्ति को अनादि जन्म देता सदा
सिद्धि भी अनन्त मोक्ष-पद निरधारे हैं।
उस परा-बीज को नमन करता हूँ, देवि !
रहते नृदेवादेव[1] जिसके सहारे हैं।

६४—अन्यतम विद्या का समुद्गम तुम्हारा बीज
व्यंजन[2] - समेत अभिव्यंजन - सहित है।
विद्या के समूह का अलौकिक प्रसार वही
मूर्तिमान जाड्य-अंधकार का अहित है।
जिसमें प्रदत्त-चित्त नित्य कमलासन हैं
कमलाधिपति का अनन्वय अमित है।
होते शंभु-आदिक निरत निज कृत्य हेतु
ऐसी परा-शक्ति का प्रभाव लोक-जित[3] है।

६५—तेरा मूल-वाक्य-भव-बीज शक्तिशाली महा
कामराज काम्य-कर्म-फल का विजेता है।
भाग्य का प्रदाता ज्ञान-ज्योति-सुख-दायी अहो !
शाश्वत त्रिविध भावना का अभिनेता है।
वर्ण-समुदाय-रूप प्रकटित भू में कर
जीवन-तरणि विश्व-सिंधु-मध्य खेता है।
सृष्टि रचता है, जीव-संस्थिति बनाता वही
सकल धरा का ध्वान्त[4]-ध्वस्त कर देता है।

१-नृदेव तथा दैत्य अर्थात् सज्जन से लेकर दुर्जन तक। २-स्वर के अतरिक्त। ३-लोकों को जीतने वाला। ४-अंधकार।

६६—नित्य जो कि तेरी मातृकाक्षर-समेत, अंब !
श्री को चक्र-संयुत नमन नर करता।
सांध्य अरुणाभा-तुल्य रंग जिसका है रक्त
ऐसी अभिराम प्रभा मानस में भरता।
और काम-नाम शिव-नाम तत्त्व का महत्त्व
अंजन-समान निज लोचनों में भरता।
वह इहलोक[1] में महान सिद्धि पाता तथा
प्राप्त करता है परलोक में अमरता।

६७—जब तक अंब ! भवदीय पद-पंकज की
पावन सरणि[2] प्राप्त करता न जन है।
तब तक मूढ़ बार-बार पढ़ता है काव्य
और अधिकाधिक लगाता व्यर्थ मन है।
जब तक होता तुझमें अनुरक्त वह
भक्त वह हो ही सकता न कदाचन है।
नष्ट व्याकरण-कोष-ज्ञान उसका है, देवि !
भ्रष्ट भावना है, वह नर पशु-तन है।

६८—देवि ! तेरे प्रति भक्ति-भाव रखने से जन
तेरा पद - पंकज - पराग - पुंज पाता है
ओक[3] उसका ही देव-लोक सम होता, और
मानी आ समक्ष मान-हीन बन जाता है।
भोग गेहिनी का मोक्ष-द्वार बनता है तथा
द्वेषी कर लेता मित्र-तुल्य निज नाता है।
पातक सुकृत-पद पाते हैं उपासक के,
भूपति विनम्र दास-भावना दिखाता है।

१-इस लोक (में)। २-मार्ग। ३-गृह।

६६—सूर्य्य-इन्दु-अग्नि-बिम्ब-निलया त्रिलोचना तू
मूलाधार - हृदय - उदर - मध्य भाती है।
श्वेत - रक्त - पाटल चरण अनुपम तेरे
तीनों लोक, तीनों वेद उत्तम बनाती है।
जागृति में, स्वप्न में, सुषुप्ति में रमी तू सदा
शंभु को, मुकुन्द को, विरंचि को लुभाती है।
तीनों पीठ, तीनों वह्नि, तीनों शक्ति द्वारा, अंब
तीनों काल, तीनों भाँति, त्रिपुरा कहाती है[1]।

७०—वाच्य-अर्थ-संयुत त्वदीय आद्य-रूप, अंब !
तदनु[2] महान स्वर पंचम दिखाता है।
अन्तिम का अन्तिम अनूप अर्थ वाचक से
आपका स्वरूप सब भाँति बन जाता है।
अग्नि-सूर्य्य-सोम-चक्र-युक्त भवदीय पद
मूलाधार - हृदय - उदर - मध्य भाता है।
प्रणव स्वरूप प्राप्त होता इस भाँति देवि !
जिसे निगमागम-समूह नित्य गाता है[3]।

७१—तू ही ब्रह्म-वादियों की ब्रह्म-नाम-धारिणी है
तू ही कर्म-वादियों को कर्म-रूप भाती है।
तू ही शाक्त जन की प्रसिद्ध परमेश्वरी है
न्याय-वादियों को विश्वकारिणी लखाती है।
सांख्य-ज्ञानियों को दिव्य पुरुष-स्वरूप तू ही
शैव मानवों को शिव-सदृश दिखाती है।
सौर-प्राणियों का सविता[4] तू अति पावन है
तू ही कवियों को कविता हो दृष्टि आती है।

१-भगवती के 'त्रिपुरा' नाम की व्याख्या। २-उसके बाद। ३-दृष्टि-कूट छन्द है। अर्थात् आद्यरूप 'अ' पंचम स्वर 'उ' तथा अन्तिम शब्द का अंतिम अक्षर 'म' मिलकर ओऽम् बनाते हैं। ४-सूर्य्य। उत्पन्न करने वाला।

७२—अन्नमय-कोष आत्म-पक्षी का अनूप शिर
प्राण-मय कोष वाम-पक्ष-सा लखाता है ।
दक्षिण पतत्र[1] है महान मनोकोष मंजु
ज्ञान-मय कोष पुच्छ-सदृश सुहाता है ।
सौख्य-मय कोष जीव-तुल्य है प्रबुद्धमान
ऐसा निगमागम-समूह नित्य गाता है ।
तुझको विलोकता विलीन पंथ कोष में जो
वही समुपासक[2] परम पद पाता है ।

७३—देह शोधने को ब्रह्म-माया का विचार दिव्य
मन का विकास आत्म-विद्या से किया करें ।
बुद्धि को समुन्नत बनायें शिव-तत्त्व-द्वारा
विविध विकार-शून्य परमा[3] क्रिया करें ।
अंब ! भवदीय रूप गुरु के सदाश्रय में
सम्यक्[4] सदुपदेश संतत लिया करें ।
अतुल प्रभाव-युक्त होकर अनूप, अंब !
सेवक सदा ही मुक्ति-भोग से जिया करें ।

७४—विविध प्रमाण से सुसाधित अनेक तंत्र
अर्थ[5]- साधना में न समर्थ भाव लाते हैं ।
जब तक उदित न होता सूर्य्य अंबर में
तारे अल्प ज्योति से न तम को भगाते हैं ।
यों ही जब तक तव संमत[6] न होता प्राप्त
हृदयान्धकार के न भेद मिट पाते हैं ।
प्राप्त भी न होता पद शाश्वत किसी को कभी
दोष जन्म-कर्म के न तब तक जाते हैं ।

१-पक्ष । २-भक्त । ३-अंतिम । सर्वश्रेष्ठ । ४-भले प्रकार से । ५-अभिलाषा । ६-ज्योति : ज्ञान ।

७५—जीव देहियों का इन्द्रियाश्रित सदा ही, अंब !
छाप मनोबुद्धि की अमिट जिस पर है ।
और यह देह कर्म-बद्ध रहती है सदा
जो कि सत्व-रज-तम-भावना का घर है ।
यह तो तुम्हारे आयुधों की ही विजय, देवि !
छिन्न-भिन्न होता जिनसे कि भव-ज्वर है ।
जिनका प्रताप ताप-दाप[1] हरता है नित्य
जिनसे अमोघ उग्र - पौरुष अमर है ।

७६—नाना योनियों में भटका हूँ दिन-रात, अंब !
भटक रहा हूँ, भटकूँगा क्या ठिकाना है ।
ज्ञात नहीं कितने जनक[2] भुगताए, और
कितने जननि-जठरों[3] में अभी जाना है ।
इस भव[4]-भीति से बचा ले मुझको तू, देवि !
निभना मुझे है, यदि तुझको निभाना है ।
अन्यथा तुझे भी जगदम्बिका कहाना, एक
चाटुकारिता है तथा व्यर्थ का बहाना है ।

७७—कौन-सा महान देह-शोषक व्रतों से लाभ
बहुविध दान - होम - जप करने से क्या ?
अन्न-सत्र[5] खोलने से, अश्व मेध बोलने से
स्वर्ण-संग तोलने से, रत्न झरने से क्या ?
सकल क्रियाएँ सुख-दुख की प्रदायिनी हैं
घर कर त्याग बन-बीच मरने से क्या ?
भक्ति बिना तेरी, शक्ति मिलती न कंस[6] को भी
व्यक्ति को स्व-मृत्यु से वृथैव डरने से क्या ?

१-दर्प । वेग । २-पिता । ३-उदर । ४-जन्म । ५-सदावत । ६-प्रसिद्ध पराक्रमी राजा, जिसने मृत्यु के भय से शक्ति को भी मारना चाहा ।

७८—प्रकट हुये हैं परा-देह से प्रकाम जो कि
अक्षर पचास उन्हें अनुकरती है तू।
नाना-विध धातुओं से, अर्थ-युक्त वाणियों से
पद-वाक्य-छन्द की स्वरूप भरती है तू।
कारण - समेत वर्तमान वस्तु - कर्म - फल
सबकी अमाप आभा आप धरती है तू।
चेतना-स्वरूप से तू व्याप्त तीनों लोक में हो
"मैं हूँ, एक मैं हूँ," यही घोष करती है तू[1]।

७८—श्रीयुत तुम्हारा चक्र,अंब ! श्रुति-मूल-कोश
देश-काल-चक्र-मय नित्य कहा जाता है।
उस पर हो रहे अधिष्ठित समस्त वर्ण
शंकर-प्रकाश-जहाँ अतिछबि छाता है।
सुन्दरी - समावृत अनूपम अरुण - ज्योति
मंत्र-शक्ति-संयुत प्रसक्ति का विधाता है।
विन्दु-सिंह-पीठ पै सवार, सुषमा के संग
दिव्य ब्रह्म-विद्या का स्वरूप दृष्टि आता है[2]।

८०—लेकर प्रवाल[3]-रवि-दीधिति-समान छबि
ज्ञान-नेत्र जिसकी सुभगता पिया करें।
लोकातीत - ललित - महोदय - समेत सदा
इन्द्रिय-समूह अति आनंद लिया करें।
विविध - विभूषण - समन्वित प्रकाशमान
रूप से स्वकीय जन को सुख दिया करें।
आप इस भाँति निज प्रबल प्रताप-युक्त
वास मेरे मन में निरन्तर किया करें।

१-शब्दार्थ-युक्त वाणी की उत्पत्ति तथा ओ३म् एवं सोऽहं की ध्वनि की निष्पत्ति को निर्दिष्ट करने वाला छन्द। २-श्रीचक्र के रहस्य का वर्णन। ३-लाल अथवा बाल।

८१—चिन्तामणि रचित अनूप पादुका से युक्त
विधि - हरि - हर - नेत्र जिनके चितेरे हैं।
नूपुर - रणित - पद - कंकण - क्वणित - संग
रक्त जपा-संन्निभ[1] अलक्त बहुतेरे हैं।
मंजु - नख - चन्द्र - खंड - रुचि - में प्रकाशमान
शोण अरविन्द पर रिङ्गण[2] घनेरे हैं।
विश्व-संतरण हैं, भरण भूरि भावना के
देवादेव-शरण चरण, अंब! तेरे हैं।

८२—ललित ललाम छवि जिनकी प्रकाम दिव्य
ऐसे अति कोमल समूह नलिनी के हैं।
होते निःश्वसन से प्रकंपित सदैव जो कि
रणित वतंस[3] जहाँ स्वर्ण-किंकिणी के हैं।
मौक्तिक-समान श्वेत रत्न कटि-मेखला के
साधु समीचीन पट्ट-वास-युक्त नीके हैं।
ऐसे अभिराम छवि-धाम काम-शत्रु-काम-
पूजित नितंब-बिम्ब विश्व-कारिणी के हैं।

८३—मृगमद - कुंकुम - कपूर - चंदनादि की भी
गंध से सुगंधित सरस सरसाते हैं।
हीरकादि-रत्न से सुशोभित महान मंजु
माला से समन्वित सुभग छवि छाते हैं।
रम्य कंठ-भूषण खचित गज-मौक्तिकों से
दीप्ति-युक्त दिव्य आभरण से सुहाते हैं।
तेरे कुच-व्याज स्वर्ण-घट-युग्मकों[4] को हम
मींच लोचनों को सिर भक्ति से झुकाते हैं।

१-समान। २-जुगनू। ३-भूषण। ४-जोड़ा।

८४—ललित विचित्र कान्ति से जो मौक्तिकों की सदा
बाहु - दंड - वलय महान अभिराम हैं।
जिसमें मनोज्ञ मणि - बंधन विराजमान
अंगदादि[1]- कंकण - समेत छबि - धाम हैं।
मुक्तावलि-कीलित, वलित हीर-मणियों से
सुन्दर सुभग कंठ-देश के ललाम हैं।
ऐसे कंठ-देश को, विशेष बाहु-दंड को भी
बद्ध-कर मेरे, अंब ! कोटिक प्रणाम हैं।

८५—राका के कलानिधान-तुल्य जिसकी है प्रभा
जो कि समुपासकों का वांछित[2] विधाता है।
जो कि विकसित सरसीरुह के पल्लवों की
कान्ति-कल्पना पै छबि-भार हुलसाता है।
कुन्द-कलिकाओं-सी रदावलि अनूप जहाँ
मोद से सु-मन्द-हास जिसमें सुहाता है।
ऐसा सुमनोहर तुम्हारा वदनारविन्द
मुझको सदा ही बार-बार याद आता है।

८६—तप्त-शातकुंभ[3]-कृत कुंडल युगल लोल
जिसमें मनोज्ञ मणि-माणिक लसे हुये।
शुक्र के स्वरूप का विकार[4] करते हैं जो कि
श्वेत गज-कुंभज अनूप विलसे हुये।
अतुल अनन्यतुल्य[5] सुन्दर अतीव रम्य
नासिकाग्रभाग में स-हास हुलसे हुये।
श्रोणित के चाक[6] में कि, नासा के बुलाक में कि
शंभु मनोभाव हैं निरन्तर बसे हुये।

१-अंगद, एक बाहु-दंड का भूषण । २-अभिलषित । ३-स्वर्ण । ४-धिक्कार । ५-अद्वितीय । ६-कुण्डल ।

८७—कुसुमित जाती[1] से, प्रफुल्लित प्रमोदिनी[2] से
युक्त हो, निवारी[3] की प्रमत्तता-निवारिणी।
शोभित शिखंडिनी[4] से, दिव्य हेम-यूथिका[5] से
मंजु माधवी[6] से रजो रेणु-अवधारिणी।
कर्णिका[7] से वलित, कलित स्वर्ण-पुष्पिका[8] से
वकुल[9]-विमंडित, क्रकच[10]-क्षोभ-कारिणी।
नील-अंजनाभा-मयी, भ्रमरामिताभा-सम
वेणी तव, अंब ! भक्त-हृदय-विहारिणी।

८८—लेखालभ्य[11] ललित ललाम से विमंडित हो
कोटि[12]-अग्र-भाग अतुलित छवि वाला है।
श्वेत-गज-मौक्तिक-सुवर्ण-किंकिणी से युक्त
कलित किरीट मणियों की एक शाला है।
देव-द्रुम-पूजित-सुमन-मालिका से मंजु
मुकुट मनोरम की सुषमा विशाला है।
तेरा उत्तमांग[13] मांग-रूपक निशेश का है
गांग[14] वारि तुल्य सितापांग[15] शैलवाला है।

८९—नंदन के चंदन से भूषित त्रिपुंड भाल
विपुल विशाल लाल आभा से ललित है।
खंजन को गंजन[16] नयन करते हैं चारु
जिनकी महान मंजु पुतली चलित है।
कीर-तुंड-आभा-अभिभंजिनी सु-नासिका है
जो कि अमिताभ गज-मौक्तिक-वलित है।
कुसुमित कमल-समान मंजु आनन में
विकचित कुन्द-सी रदावलि कलित है।

१—चमेली। २-बेला। ३-वासन्ती। ४-जूही। ५-पीली जूही। ६-भद्रलता। ७-गुलाब। ८-चंपा। ९-मौलिसिरी। १०-केवड़ा। ११-अति निबिड़। १२-चोटी। १३-शिर। १४-गंगा का। १५-श्वेत निरीक्षण वाला १६-पराजित।

६०—ध्यान करता है उक्त रूप का तुम्हारे जो कि
वह बनिताओं को अनंग-तुल्य भाता है।
गलित हृषीक[1] बन जाता है तरुण-प्राय,
परम मनोरम शरीर दिव्य पाता है।
अपनी विभूतियों से—अणिमादिकों से-वह
सुर को, सुरेश को, सुरारि को लजाता है।
आपके प्रसाद से अनूप चक्रवर्तियों के
स्वर्ण-मुकुटों को निज पद पै गिराता है।

६१—मेरी कविता में, गीति-गरिमा प्रसार, अंब !
मेरे वचनों में निगमागम को भर दे।
जननि ! बहुज्ञता प्रचार मम मानस में
मेरे लोचनों को चरणों से दीप्त कर दे।
मेरे कर्म श्रद्धा से समन्वित बना दे द्रुत
मेरे गृह-अंगन में भूति-भार धर दे।
मेरा वपु विपुल निरामय[2] बना दे, देवि,
कवि सार्वभौम-पदवी का मुझे वर दे।

६१—ओषध अनूप पर्णहीना, अंबिकेश्वरि तू
स्थाणु[3] जिसे पाकर अमृत-फल देते हैं।
जग में प्रसिद्ध निधनंजय[4] के नाम से हो
पुरुष पुराण दो-दो ब्याह कर लेते हैं।
तू भी इसी मान से प्रसन्न बन जाती, देवि !
तेरे उपमान को सुकवि-गण चेते हैं।
लीला से मृणाल-व्याल-वलय मृडानि ! तेरे
केश भी कपर्द[5] अनुरूपता को सेते हैं।

१-वृद्ध पुरुष । २-रोग-हीन । ३-शंकर । सूखा पेड़ । ४-मृत्युञ्जय ।
५-जटाजूट ।

६३—अहह ! अनूप रूप सुन्दर बना है यह
चेतना में सहज अचेतना समायी-सी ।
वामा वाम-अंग में विहार करती है किन्तु
लेकर जम्हाई, कुछ आयी अंगड़ाई-सी ।
साम्बु सरसीरुह-समायत विलोचनों में
आज अनायास अर्ध-मिलिता[1] सुहायी-सी ।
स्थाणु-कंठ-देश से गलित कालकूट को पी
लिपटी लता है अंग-अंग मुरझायी-सी[2] ।

६४—तू ही विष्णु-माया, चेतना, तू शक्ति, जाति, वृत्ति,
निद्रा तू, स्वधा तू, स्वाहा, बुद्धि, क्रान्ति-रूपिणी ।
सुस्मृति, दया तू, तुष्टि, पुष्टि, मातृ, गौरी, चिति,
श्रद्धा तू, क्षुधा तू, छाया, सिद्धि क्षान्ति-रूपिणी ।
लज्जा, शिवा, भद्रा, दुर्गपारा, है सुधा, है रमा
नित्या तू, तृषा तू, बुद्धि, मेधा, शान्ति-रूपिणी ।
धातृका, सुखा तू, सर्व-सारा तू, नियति, देवि !
प्रकृति, प्रतिष्ठा तू, उमा तू भ्रान्ति-रूपिणी[3] ।

६५—शंभु को विलोक जो सलज्ज बन जाती और
देख के गजाजिन[4] करुण भाव लाती है ।
निरख भुजंगम सन्त्रास अति होती तथा
चन्द्र अवलोक अचरज में समाती है ।
डाह करती है सुरसरि को विलोक कर
लखके कपाल-माल दीन दिखलाती है ।
तेरी वह दृष्टि हे भवानि ! नव संगम में
भव में मनोभव की सृष्टि उपजाती है ।

१-आधा मींचा-पन । २-गम्योत्प्रेक्षा । ३-सभी नाम श्री भगवती के हैं । ४-हाथी की खाल ।

९६—शंभु - शैल - शिखर - विराजमान आनँद से
अंब ! अमिताभ छबि धर सरसाती है।
काम-कामिनी को कला-कलित बनाती हुयी
पूर्ण - इन्दु गौर मुसँकान मुसकाती है।
तब महादेव - महामानस - महोदधि को
अति अनुरंजित तरंगित बनाती है।
काम - रिपु - कामिनी ! प्रकाम करुणाकुल हो
अलसित लसित सित-द्युति जम्हाती है[१]।

९७—मुझ कविता - गत - निरीक्षण - शिरोमणि को
करुण कटाक्ष - द्वारा अविराम देखा कर।
सारे व्यसनों से मोक्ष-दायक विलोचनों से
अष्ट-मूर्ति[२]-जाये ! मुझे आठों याम देखा कर।
तेरे नेत्र - वाण विश्व - विवुध - प्रबोध - प्राण
विनत जनों को कर मुक्त-दाम[३] देखा कर।
भव - भय - नाशन - कुशल नयनों से, अंब !
सेवकों को प्रेम से महेश - वाम देखा कर।

९८—परम - अधीन - अनुरंजन - तरलितों से
अविरल - कलित - कृपा के पल - व्रातों[४] से।
नील लोल लीला के विलास-युक्त पटलों से
जन - अभिलषित[५]- प्रपूर्ण - कर गातों से।
चंचरीक - चपल - प्रभाव - भरे कैरवों से
मानस - हृदय - समुदित जल - जातों से।
भूति[६]—समाधारों—कान्तिसारों—से सदैव मम
नष्ट कर पातक स्वकीय दृष्टि - पातों से।

१-अंतिम चरण के उत्तरार्ध में कवि एक-एक अक्षर छोड़ता हुआ तीन शब्दों का समाहार करता है। यथा:—"हे साहसांक ! कवयामि वयामि यामि।" २-शंकर। ३-बंधन-हीन। ४-समूह। ५-अभिलाषा। ६-विभूति।

९९—घन के समान अभिराम और श्याम है जो
अति सुख-धाम है जो भूरि-भाव-ताप-हार।
अमृत-समान है, रहित उपमान जो कि
सुयश-निधान है, समुन्नति - विधान - धर।
विश्व - बन - बंजुल[1] है, शंभु - प्रेम - मंजुल है,
जन - मन - रंजन है, खंजन - विशोक - कर।
अंब! भव-भीति से स-भीत निज सेवक पै
वह दृष्टि - पात करुणा से वितरण कर।

१००—जिसकी ललाम रुचि नयनाभिराम देख
बाल - रवि - लाली[2] कुछ देर भी न ठहरी।
और मृदु मंजुल अनूपम अरुणिमा ले
होगयी निहित साँझ की भी छवि छहरी।
ललित - ललित शोभा - वलित[3] प्रवाल[4] - पुंज
जाकर छिपा है पा पयोधि - गुफा गहरी।
विजय - विधायक अनूप अवलंब वही
अंब - पद - पंकज - ललाम - लोल लहरी।

१-एक सुन्दर वृक्ष। २-रक्तिमा। ३-युक्त। ४-मूंगा।

चरणार्चन

इस अध्याय में ८० छन्दों में श्री भगवती के चरणों का वर्णन है। इस विषय पर हिन्दी में केवल एक पुस्तक है। पं० रामचन्द्र ने अपनी प्रसिद्ध 'चरण-चंद्रिका' (भारत-जीवन प्रेस, काशी) में कोई २५-२६ छन्दों में इस विषय को बड़े ही अच्छे ढंग से वर्णित किया है। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों के कतिपय फुटकर छन्द अवश्य मिलते हैं लेकिन उनमें वह सर्वांगीण व्यापकता कहाँ, जो आपको यहाँ दृष्टिगोचर होगी। अनूप जी ने चरणों के प्रत्यंग का वर्णन किया है। चरण-नख, चरण-अंगुली, चरण-तल, चरण-युग्म, चरण-रेणु आदि के अतिरिक्त उनकी कोमलता, उनका वर्ण, उनके नूपुरों की ध्वनि तथा उनमें लगा हुआ यावक, सभी उनके काव्य के विषय हैं।

चरणों की उपमा अधिकतर कमल से ही दी जाती है अतएव उपमा-मूलक जितने अलंकार हैं उन सब में कवि ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया

है। रूपक दूसरा अलंकार है जो अपने प्राबल्य से कवियों की बहुत बड़ी सहायता करता है। प्रस्तुत अध्याय में चरणों के रूपक सूर्य्य, सूर्य्य-किरण, चन्द्र, पूर्णचन्द्र, मेघ, वर्षा, वसन्त, शरद, हंस, प्रभात, संध्या, किसलय, भ्रमर, हाथी, सिंह, शोणभद्र, बड़वानल, अरणी, चौर, विष्णु, चंदन, मुक्ति आदि-आदि अनेक पदार्थ एवं वस्तुएं हैं जो कवि के कौशल का परिचय देते हैं। उक्त दो प्रसिद्ध अलंकारों के अतिरिक्त विरोध, विरोधाभास, विभावना, तुल्य-योगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, स्वभावोक्ति, अत्युक्ति आदि अलंकारों के आश्रय से कवि ने चरण-वर्णन की इति-श्री-सी कर दी है।

कवि-भक्त तथा भक्त कवि ऐसे चरणों में अपने नेत्र क्यों न अनुस्यूत कर लें जिनको स्वर्ग-पथ पर चलते हुए देखकर—उनकी आहट सुन कर—तारे अपने हृदय की गति रोक कर खड़े हो जाते हैं; वह चरण—जिनका स्वर्य्य सुनने के लिए तारे अधीर हैं लेकिन जिनकी मन्द ध्वनि उत्तरोत्तर आकाश में विलीन हो जाती है; वह चरण—जो बिना वृन्तों को झुकाये हुए, बिना पुष्पों को विदलित किये हुए, विना कमल-दल से ओस-बून्द गिराये हुए, आते हैं और चले जाते हैं।

१०१—अंब ! तव चरण प्रणत[1] - सुख - दायक हैं
मुनि - मन - मंदिर विनोद वितरा करें।
साधु-सुजनों के चारु चित्त में निवास करें
मन में नरों के, किन्नरों के विहरा करें।
पद युग तेरे युगपद[2] दुख मेरे हरें
मृत्यु को मृतक करें, विजित जरा करें।
दास - मनोभाव - चंचरीक इन्हीं पंकजों में
पी कर पराग राग - सीकर[3] झरा करें।

१-दास। २ एक साथ। ३-कण।

१०२—हंसक -[1] समूह जिन्हें करते समादृत हैं,
संघ हंसियों के चले चाल कुछ हल के।
यद्यपि नियत जल - मध्य है शरण[2], किन्तु
जड़ता[3] - विहीन बने पुंज परिमल के।
दोषागम[4] - मलिन प्रकृत सुमनों को यह
करते अ - दोष बल - वैभव प्रबल के।
मेरे मनोभृंग को विमुक्त करते न कभी
चरण - कमल मद - हरण कमल के।

१०३—झलक रही है आज विबुध[5] - वधूटियों की
श्रवण - तटी में शरदागम - प्रभात - छवि।
विकसित हो रही हमारे हृदयाम्बर में
कल्पना - जगत की प्रभूत प्रात - गात छवि।
अमरांगनाओं की विभासित उरोज - जटी
नवल निचोल[6] - पटी भव्य अवदात छवि।
प्रकट हुयी है कल्प - वल्लरी अकिंचनों की
राग - अनुरंजिनी चरण जल - जात छवि।

१०४—अंब! तेरे चरण हुये यों उपमा से हीन
जन - श्रुति - सेवी - से मिले हैं बड़ी खोज से।
बालक - अधर - अवदात से अनूप अति
लसते घिरे हैं द्विज - निकर पयोज - से।
प्रणत - जनों के प्राप्ति - काम के जनक यह
छवि दे रहे हैं मुक्त - मंडित उरोज - से।
संसृति - तमी में भी प्रफुल्लता - समेत मंजु
हंस[7] - मंडली के साथ शोभित सरोज - से।

१-बिछुये या हंस। २-वास। ३-जल का भाव अथवा जड़ता। ४-संध्या। ५-देवता। ६-वस्त्र। ७-बिछुये।

१०५—नूपुर - निनाद हो रहा है सब ओर आज,
आतुर हो हंसक - समूह गतिवान क्यों न।
कान्त और कोमल नखों की रुचि देख - देख
हो अति अनूप काव्य-कल्पना महान क्यों न।
छाया - अरुणारुण सुभग सरसी है आज
फैले सु-प्रभात में प्रभा का अभिमान क्यों न।
मानस में मेरे खिल जाँय अंब ! तेरे पद
मानस - विलासी[१]-सरसीरुह-समान क्यों न।

१०६—नख - मिष निरख अमर - तटिनी का तीर
होकर निमग्न ध्रुव[२] धुन धरने लगे।
विबुध - द्विजों से परिसेवित महानुभाव
चारों ओर पावन प्रभाव झरने लगे।
परुष[३] मृदुलता का, कोमल कठोरता का
अचरज सकल दिशा में भरने लगे।
तेरे चरणों का, माँ ! विलोक के अनूप तेज
कंज काननों में जा तपस्या करने लगे।

१०७—पंक - पुंज को भी जो पुनीत कर देता सदा
सुलभ जनों को सब काल, सब देश में।
कंटकित होकर अकंटक बनाता, और
भरता प्रकाश - प्रतिविम्ब भी निशेश में।
हंसक - समेत शोण रंग से समन्वित हो
सितता सँवारता है दिवसावशेष[४] में।
कितनी विशेषता भरी है, अंब ! जाने कौन,
आपके अनूप पद - पंकज विशेष में।

१-मानसरोवर में रहने वाले। २-निश्चय ही। ३-कठोर। ४-संध्या।

१०८—प्राप्त करते जिन्हें अमृत - ओस - बुंद - सम
शंभु जटाजूट में निबद्ध दन्त शूक[१] - फण।
संध्यारुण करते निशाकर की शुभ्रता को
बालारुण[२] बनते दिवाकर - मरीचि - कण।
पुण्य - परिपाक करते हैं उन मानवों का
जो कि भज लेते भक्ति - युक्त एक भी हैं क्षण।
जन - सुख - दायक, विधायक विभूतियों के
सबको सुभाग्य दें चरण - कंज -रेणु - कण।

१०९—प्राप्त कर पाये उन्हें अंत में निशुंभ - शुंभ
चाहते जिन्हें थे पहले ही उपसुन्द - सुन्द।
इच्छुक समस्त देवता रहे तथापि रस
पी कर प्रशस्य[३] हुआ केवल गणेश - तुन्द।
निपतित होते इस भाँति लसते हैं यथा
प्रात में अरुण - राग - रंजित प्रसून - कुन्द।
अंब ! कहो किसको पुनीत करते हैं नहीं
भवदीय - चरणारविन्द - मकरंद - बुन्द।

११०—सुरुचि - सदन, कलि - कालिमा - कदन यह
मदन - मृदन[४] - देह - खेह बिना मल की।
चंद्र - हास - भासित सदा - सित अनूप दिव्य
सुखद सुवासित सुरभि अविचल की।
सरस स - राग सु - ललित अनुराग - रंग
सुषमा - विभाग दिव्य - ज्योति गंगा-जल की।
भक्त - अनुकूल अनुरक्त[५] - भव - शूल - हर
सिद्ध - सुख - मूल धूल चरण - कमल की।

१-सर्प। २-प्रभात-काल जैसे लाल। ३-धन्य। ४-नाश करने वाला।
५-वास।

१११—छवि नख की है श्वेत पयस[1] - पयोनिधि - सी
तरल तरंग ध्वनि मंजु नूपुरों का रव।
शंख - संग, चक्र[2] साथ, कमल - समेत तल
प्रकटित करता अनूपम प्रभा है नव।
मीन - कुल - संकुल लहर लोल - लेखा लिये
ललित - ललाम द्युति - धाम प्रीति के प्रभव।
विमल विभा के वृन्द, पंकज - प्रभा के पुंज,
धाम कमला के हैं चरण कमला के धव[3]।

११२—चारों ओर चंद्रिका - प्रसारित नखों की ज्योति
खंडित अखंड मोह - तम करते हैं अति।
रचते विमानित प्रभा हैं इन्दिरालय की
होकर परम हंस मुग्ध रखते हैं रति[4]।
सुमन सुगंध सरसाती मानसों में मोद
मरुत[5] - विलास बनते हैं महा - मंद - गति।
अंब ! तेरे चरण युगल छविवान, एक
शरद - निशा है, एक शरद - निशा का पति।

११३—शक्ति विश्व - रक्षिणी समायी जिनमें है वह
काम - रिपु - कामिनी के कामद प्रकाम पद।
विबुधाभिवंदित अनूप रमणीय अति
करते प्रफुल्ल - पंक जात छवि क्षाम[6] पद।
लीला - लोल ललित ललाम-छवि धाम मंजु
लोक - पाल - मुकुट-तटी के सीमा -धाम पद।
दक्षिण चरण मोह - तिमिर - विदारी रवि,
अमृत प्रसारी कलाधारी विधु वाम - पद।

१-क्षीर। २-शोभा। ३-पति (विष्णु)। ४-प्रम। ५-हवा या देवता।
६-क्षीण।

११४—एक रस-धारा बरसाता है निरंतर ही
दूसरा सदा ही विबुधों के साथ बसता।
एक इन्द्र-धनुष-समान बहु-रंगी यदि
दूसरे को भाती शची-वल्लकी सरसता।
इन्द्र-वधुओं को एक करता स-राग है, तो
तम-बल-द्रोही बन दूसरा विलसता।
काली-पद सावन के मेघ-सा विराजता है,
गौरी-पद मंजु मेघ-वाहन-सा लसता।

११५—नाश होते तम के प्रकाशती है बोध-चन्द्र
धरती कला है अनुराग की न थोड़ी यह।
ओढ़ नख-रुचि-परिधान अभिसारिका-सी
आती मनो-रंग[1] पर गाती प्रीति टोड़ी[2] यह।
सरग सराग संचरित करती है लास्य,
मंद-मंद नूपुर-निनाद में बिलोड़ी यह।
विबुध जनों को महा मोह की विधायिनी है
अंब! तेरे सुन्दर पदों की मंजु जोड़ी यह।

११६—पद-तल मंजुल मृदुल अवलोक कर
होता खंडिता के है प्रभात लोचनों का भान।
आता मन मेरे यह पावक की रेख-देख
मुदिता-सुपीक-लीक-रंचित-कपोल-ज्ञान।
किन्तु रम्य नूपुर-निनाद करती है जब
कहती हुयी-सी कुछ कुसुमायुधारि[3]-कान।
शंभु-प्रेम-कलह शिथिल करती है तब
तेरे शरणों की चारु जोड़ी कामदा महान।

१-मन रूपी रंग-मंच। २-एक राग। ३-शंकर।

११७—देती प्राण-दान है कटुक-अनुपान-हीन
सर्व-देश-प्राप्य, सर्व-समय विकासिनी।
तो भी प्राप्त होती संत-हृदय-प्रदेश में ही
साधु-सुकृती की बुद्धि-वल्लरी-विलासिनी।
और, मिलती है निगमागम-गुफा में यह
एक ध्यान-मात्र से प्रभाव-प्रतिभासिनी।
सिद्धिदा न थोड़ी है, अमृत की निचोड़ी यह
जोड़ी अंब! पद की जड़ी[1] है ताप-नाशिनी।

११८—तरुण-तरणि ज्योति अरुण नहीं है यह,
मंडित-महावर चरण चारु अंबा के।
मोद-मयी मेचक मिलिन्द-मंडली न यह
केश इन्द्र-जाया[2] पाद-पीठ-अनलंबा के।
चारों ओर फैल-सी रही न मकरन्द-रेणु
चल[3] प्रतिबिम्ब अनुरक्ति अविलंबा के।
शोभा सरसी में न प्रभात अरविंद मंजु
मानस में मेरे युग पद जगदम्बा के।

११९—नीलमणि-नूपुर-विमंडित विराजमान
हरते कलिन्द-कन्यका[4] का अभिमान हैं।
अति अवदात नख-छवि प्रकटी है जहाँ
सुरसरि-सदृश धवल-परिधान हैं।
ललित ललाम लसते हैं रंग यावक के
रचते सरस्वती-विलास का विधान हैं।
तेरे युग चरण त्रिवेणी की तरंग-सम
साधु-सुजनों के सिद्धि-साधन महान हैं।

१-जड़ी-बूटी। २-शची। ३-चंचल। ४-यमुना।

१२०—अंब ! तव मृदुल - वदन - सरसीरुह से
होड़ करने को अविकल तारकाधिराज-
उदित हुआ तो बढ़ा राहु ग्रसने के लिए
टूटी सिर सत्वर कलंक की महान गाज।
क्षीण तन होने लगा, दीन मन होने लगा,
हीन हुआ अति ही अधीन उसका समाज।
पकड़ लिया है पद जकड़ उसी ने लिया
सोलह कला का वह विंशति[1] नखों के ब्याज।

१२१—अंबिके ! इले ! उमे ! शिवे ! भवानि ! शैल-सुते !
सर्व-मंगले ! भवे ! पुनीत पद आपका।
नाश कर देता है प्रचंड भीति भूतल की
रखता न लेश जगती के घोर ताप का।
मेरी अति मंजु काव्य - प्रतिभा - नदी के लिए
प्रकटा प्रपूर्ण हो पयोद पुण्य - आप[2] का।
इस जगती के तम - तोम के विदारने को
उदित सदैव दिव्य पूषण[3] प्रताप का।

१२२—नित्य - प्रति मंजुल महान छवि छाया धरे
मित्रता सदा ही कल कंज से निभाता है।
निखिल - निधान ज्योति का है जगतीतल में
सुप्त मनुजों को प्रति - दिवस जगाता है।
साधु - संत - सज्जन - समाज को समादर से
परम पुनीत पुण्य - पथ दिखलाता है।
अंब ! तव चरण न होता अस्त - प्राय कभी
दिवसाधिनाथ होड़[4] व्यर्थ ही लगाता है।

१-बीस। २-जल। ३-सूर्य। ४-बराबरी।

१२३—मोह - मह[1]-मंडित जनों के मनो - अंबर से
प्रकट हुआ ज्यों ज्ञान रूपक तरणि का।
या कि मुनि-गण-चित्त-चारु-मंदराचल से
झरण हुआ है यह अमृत - सरणि का।
किन्तु, मति - रंक कृत - कलुष कलंक मुझे
मिल जाय, अंबिके! नखों की ज्योति-कणिका।
एक पद रम्य रत्न - राशि का स्वरूप ही है,
दूसरा अनूप दिव्य दीपक है मणि का।

१२४—तामस - प्रसार के हैं अविकल द्रोही, जिन्हें
अविचल राग है जपा की मंजु लाली से।
मुदित हुये हैं वह हृदय - सरोज - संघ
फुल्लारुण-कारक[2] मयूख ज्योति-जाली से।
हो गया महान अवसान मोह - यामिनी का
विरत मिलिन्द - मन मद - मधु - प्याली से।
पद युग तेरे युग - पद प्रकटे हैं मम
उर - उदयाद्रि पै उदित अंशु - माली से।

१२५—प्रबल प्रकाश की प्रचंडता अनूप दिव्य
अमृत - निकेत वपु लोहित लखाता है।
सौम्य सुजनों को, विनतों को, भक्ति-भाजनों को
दिव्य - दृष्टि - दायक सुरंग चढ़ आता है।
सकल जनों का मोह - तम करता है नष्ट
पूरित सुरेन्द्र - आशा[3] तेज से बनाता है।
अंब! तव चरण ज्वलित तारुणारुण[4] की
किरण प्रभा का मूल - तत्त्व प्रकटाता है।

१-उत्सव, यहाँ अवसर। २-प्रफुल्लता से अरुण बनाने वाले। ३-पूर्व दिशा। ४-बाल रवि।

१२६—शोभा कर देते संकुचित सरसीरुह की
नूपुर - निनाद - मिष चंचरीक घेरे हैं।
चारु अर्ध - चन्द्र सी नख - द्युति प्रकाशमान
रक्तिमा विलोक शोण मेघ बने चेरे हैं।
जन - मन - कुमुद - विकासी छबि - पुंज देख-
देख उगे हंसक नखत बहुतेरे हैं।
अंब ! इस पश्चिम दिगंगन[1] में फूली हुई
संध्या से उपास्य पद-पुंडरीक तेरे हैं।

१२७—मेरे भव - तापित प्रदेश - से ललाट पर
चरण महान शुचि[2] - मास के जलद हैं।
युग - सरि - सदृश - प्रवाहित दृगों के लिए
मोद के निधान नभ[3] मास के जलद हैं।
हृदय - धरा को नीर - स्रावित बनाते हुये
लोचन - सुखद भाद्र - मास के जलद हैं।
मेरे कर - पुट के विशद शुक्ति - संपुट के
हेतु शुक्तिका के क्वाँर - मास के जलद हैं।

१२८—अनुपम आभा - भरी उत्तम उँगलियों में
राग - रंग चंपक - कली के मन भाया है।
मुनि - मन - नंदन निनाद नूपुरों का सुन
गुंजरित भृंग - मंडली ने मान पाया है।
विटप अशोक हो रहे हैं अवनीतल के
नख - रुचि निरख मँदार[4] हुलसाया है।
तेरे पद - व्याज, अंब ! मेरे मन - कानन में
सहित - समाज ऋतुराज आज आया है।

१-दिशा के आँगन में। २-आषाढ़। ३-श्रावण। ४-आक का पेड़।

१२९—काम - क्रोध - लोभ - मोह-द्रोह-दंभ-वीचियों में
यह विश्व - वारिधि तरंगित महान है।
कब प्रकटेगा बन दक्षिण[1] जनों के लिए
आपका चरण मणि - सेतु के समान है।
दुरित - निदाघ में सुमति - सरिता का नीर
सूख रहा, मेरा मन - केकी अति म्लान है।
कब त्याग देगा निज वामना तुम्हारा पद
सावन - घनों का घटाटोप घमसान है।

१३०—नख-रुचि जिनकी बलाक[2]-मालिका-सी लसी
संध्या से अलक्त सौम्य - सुषमा - सदन में।
नाचते स - मोद नील - कंठ देख - देख जिन्हें
झिल्ली झनकारते पदांगद[3] के स्वन से।
विकच प्रसून बंधु - जीव[4] को मिला है राग
सुहृद - भरण - भूति - भूषित गगन से।
बरस रहे हैं कृपा - वारि हृदयस्थल पै
जननि ! तुम्हारे पद सावन के घन - से।

१३१—अंब ! इन परम पुनीत पद - पंकजों की
महिमा त्रिलोक में प्रमोद भर देती है।
अति अभिराम अरविन्द - अटवी को यह
पूरित प्रभात की प्रभा से कर देती है।
पिक - से अनूप सब सुकवि - गणों के चित्त
विपुल वसन्त का विकास धर देती है।
प्रकट परम बोध[5] - विधु को प्रदोष[6] बन
शीघ्र नैश[7] निविडान्धकार हर देती है।

१-अनुकूल। २-बक। ३-बिछुवे। ४-रक्त पुष्प। ५-ज्ञान। ६-संध्या। ७-रात्रि का।

१३२—परम चतुर महागुरु के समान यह
सुगति मराल-मंडली को सिखलाते हैं।
राग-युक्त होकर विराग के जनक[1] बने
शोण-सरसीरुह-सखा से दृष्टि आते हैं।
मेरे यह एक-मात्र स-हृदय स्वामी अंब!
कलित कृपा का मांडलिक छत्र छाते हैं।
दिन में तरणि हो प्रकाश करते हैं, और
रात्रि को सदैव राका-सदृश बनाते हैं।

१३३—समुदित चरण हृदय उदयाचल पै
यावक ने आम्र-ताम्र-रंग निज फेरा है।
या तो दोपहर युग पद-तल-से हैं लसे
जिसको प्रभा ने परिवेष[2] बन घेरा है।
अथवा घटी है राग-संध्या की पुनीत घटी
नख-किरणों का अर्द्ध-चंद्र-सा बसेरा है।
प्रेम-सरसी है, करुणा की शुभ्र यामिनी है
भृंग मन मेरा है, पदारविन्द तेरा है।

१३४—मेनका-घृताची-रति-रम्भा-मंजुघोषा[3]-युक्त
चित्ररथ-तुम्बुर[4]-समाज जब आता है।
ताल-स्वर-सहित मृदंग-चंग-वेणु पर
मंद कल ध्वनि से सँगीत जब गाता है।
तब परिवादिनि[5]-प्ररोह-अवरोह सुन
परम प्रफुल्लित चरण बन जाता है।
पद-नख-मिष मंद-मंद हँसता है यह
नूपुर-निनाद-ब्याज तालियाँ बजाता है।

१-पिता या उत्पन्न करने वाले। २-घेरा या वृत्त। ३-अप्सराओं के नाम। ४-गन्धर्वों के नाम। ५-वीणा।

१३५—विधि - हरि - शंकर - प्रभृति[1] देव - मंडली के
मंजु मुकुटों के पीठ-भूत अरुणारे पद।
तारा - तारानायक - तरणि से भी तीव्रतर
अमित अलौकिक अनूप ज्योति धारे पद।
अंबर में, भूमि में, रसातल में देखे गये
दश-नख-आभा दश दिशि में पसारे पद।
दास की तुरीय[2]-भावना के प्रतिपादक हैं
जागृति के, स्वप्न के, सुषुप्ति के सहारे पद।

१३६—स्थलचर - जलचर - नभचर - आदिकों से
निपट अलभ्य मुक्ति-लाभ के करण[3] हैं।
नख-छबि-द्वारा चन्द्रिका के अपमान-कारी
तल से तरुण-रवि-आभा के हरण हैं।
गान निगमागम इन्हीं का करते हैं नित्य
सब स - चराचर - सुरासुर शरण हैं।
अपहृत करके प्रफुल्ल पुण्डरीक - छबि
आप के मृदुल महा - महिम चरण हैं।

१३७—भारत-प्रसिद्ध मेरी काव्य-गरिमा के मध्य
प्रतिभा - प्रकाशन में उक्ति के धरण हैं।
सुखद सदैव शोण - किरण - प्रसारी यह
दीन - दुखियों के एक रक्षण - करण हैं।
धन नारदादि के सदन शारदादि के भी
प्राण पारदादि[4] के अबलता - हरण हैं।
दुरित-दरण अशरण के शरण शुभ
शनक - सरण[5], अंब ! आपके चरण हैं।

१-आदि। २-चतुर्थ अवस्था। ३-साधन। ३-पारा आदि रसों के भी रस।
५-मंद-मंद चलने वाले।

१३८—अंब ! तव चरण - तरुण - दिनकर - कर-
सदृश प्रकाशते मुनीन्द्र - मति - प्राची पर।
देते परिपाक यों अनूप - सूक्ति - नलिनी को
होता मकरन्द-रस-दान भक्ति साँची पर।
रखते प्रभाव एक भाव हो दुराव छोड़
शक्र - सनकादि पर, इन्दिरा-घृताची पर।
फिर क्यों चुराते मनो रत्न स्व-जनों के यह
डाका डालते हैं किस लय-रुचि राँची पर[1]।

१३९—महिमा पदों की आगे सुकवि कहेंगे कुछ
कुछ कहते हैं, कुछ पहले गये हैं कह।
कौन अचरज छीनी मत्त कुंजरों की गति
सुषमा सजग कमलों की जब ली है गह।
यावक[2] नहीं है, यह कंज-समता के कोप
पुंजी भूत होकर अरुणिमा गयी है रह।
नूपुर न, मंजुल महावर के भार, अंब !
कुंचित भृकुटि-भंगिमा है चरणों की यह।

१४०—सेव्य हैं न केवल विपुल विबुधों से यह
विश्व के बुधों से परिषेवित अनूप हैं।
केवल न गातीं गुण-गान देव-कन्यका ही
इंदिरा[3] दिखाती दीप, देती इला[4] धूप हैं।
भूभृत - विभेद करते हैं वह, किन्तु यह
भूभृत - विभाव के समुन्नत स्वरूप हैं।
बल बल-द्रोही, बल-प्रेमी पद अंबिका के,
इनमें समा गये सहस्रों सुर-भूप हैं।

१-विरोधाभास। २-महावर। ३-लक्ष्मी। ४-सरस्वती।

१४१—अंबिके ! त्वदीय अभिराम पद से हो त्रस्त
वास किया जाके किसलय ने गहन में।
और, हो नितान्त रेखा-रूप सरसीरुह भी
आकर खिला है पद - पंकज - सदन में।
होता है पराभव किसी का किसी भाँति जब
आते उसके हैं समुपाय[1] दो ही मन में।
या तो वह जाकर विदेश में निवास करे,
वास करे या तो वह शत्रु के भवन में।

१४२—पुर - परिपंथिक - पुरंध्री[2] - पद पूज - पूज
मोह - पृथ्वीतल - पयोनिधि को पार कर।
लोग चाहते हैं पुण्य-सुलभ महान मुक्ति
अपने पुराकृत - कठोर - कृत त्तार कर।
तब मिल जाती है सुभाग्य से अनूप उन्हें
चरण-निसेनी दृढ़ आश्रय प्रसार कर।
हार कर हृदय, विदार कर बोध-सिंधु
होते हैं प्रसिद्ध पद - प्रणति - प्रचार कर।

१४३—हृदय हिमालय का विलसा वसन्त-युक्त
सो गया दिनेश जब काल नक्त[3] हो गया।
अंबर में आते ही अनूप क्षणदाकर के
काम-रिपु का भी मन काम-सक्त हो गया।
विनय - समाकुल प्रणय - कलहाकुल का
भव्य अनुराग-भाव भू में व्यक्त हो गया।
धन्य ! अंब - यावक - वलित पद छू के जिसे
श्वेत चंद्र-चूड़ - चूड़ - चन्द्र रक्त हो गया।

१-उपाय। २-पुर नामक राक्षस के शत्रु (पुरारि) की स्त्री। ३-रात्रि

१४४—चारु चरणों पर नमित बनती है जब
देव - वधू - सहित कलत्र देव - राज की।
श्याम अलकावलि चपला भरती है फबि
छबि हरती है व्यालिनी के भी समाज की।
बिंबित नख - द्युति समुज्ज्वल बनाती उसे
चित्रित लकीर भी महावर के साज की।
मानो भक्ति-विवश उमा के कर से हो गिरी
मंजुल मँदार - माला प्रमथाधिराज[1] की।

१४५—राजते चरण रजो रंजित, परन्तु यह
वंदनीय विपुल विरज स्वर्ग - सद[2] - से।
यद्यपि अनूप रक्त-राग से विभूषित हैं,
किन्तु इन्हें चाहते विरक्त उच्च पद से।
मंद मानवों को हैं अलभ्य, किन्तु डोलते हैं,
मंद - मंद मारुत - समीरित[3] जलद - से।
ललित अलक्त रंग छलक रहा है, या कि,
अचरज झलक रहा है युग पद से।

१४६—सुयश बढ़ाता, काव्य - प्रतिभा जगाता यह
भवन महान संपदा से भर देता है।
प्रणत जनों का सौख्य-सुषमा-विधाता यही
साधुओं के ताप को त्वरित हर देता है।
जो पै बावदूक[4] मणि - नूपुर - निनाद से है
तो भी मोद-मौनता जनों में धर देता है।
यद्यपि स्व - भाव से अरुण है चरण चारु
तो भी दास हृदय धवल कर देता है।

१-शंकर। २-देवता। ३-प्रेरित। ४-शब्द-युक्त, मुखरित।

१४७—प्रकृति-मलिन भ्रमरों से युक्त होकर भी!
कैसी पद - छबि मल - रहित लखाती है।
और, कैसी पद-नख-आभा दुगुनी हो, अहो,
विंशति कला की चंद्रिका-सी छबि छाती है।
रज से समन्वित सदैव रहती है, फिर
क्यों कर विरज[1] - मंडली के मन भाती है।
इतनी विषमता क्यों इन चरणों में हो न,
जाया तू विषम - शर - वैरी[2] की कहाती है।

१४८—भक्त-जन को जो सु-मधुर मधु[3]-सा है पद
शुचि[4] बन जाता कैसे अति घन-छाया से?
रहता शिशिर नख - चन्द्र - चंद्रिका से, तब
पंकज प्रफुल्ल करता है किस माया से?
कैसे चुभती है शुची-सम मुनियों के मन
ऐसी मंजु कोमल कमल-कल काया से?
कैसे सहता है सुर - मुकुट - कठोरता को?
पूछिये अनूप उसी शशि - शिर - जाया[5] से?

१४९—संयुत सदैव जो अलस - गति - विभ्रम से
द्रोह से करीन्द्र को भी करता नितान्त नत।
यावक समन्वित अनूप मंजु लालिमा से,
द्वेष से बनाता कंज को भी कंटकों से क्षत।
मोह भरता है अविकार शंभु-मानस में
होता है स-काम-भाव प्रणत जनों में रत।
भूषण भरे हैं, सब दूषण अमाननीय,
माननीय है न मति - मंथर - मुनीन्द्र - मत[6]।

१-देवता। २-शंकर। ३-वसन्त। ४-श्रावण। ५-पार्वती। ६-मंद-मति मुनियों का विचार।

१५०—आपका चरण राग की है रम्य राशि, अंब !
अथवा महान द्वेष-सिंधु की है तरणी ।
अंबर में, भूमि में, रसातल में, फैली हुयी
माया रज की है असुरारि - मोह - धरणी ।
नत कर देती है सहज ही त्रिदेव - शिर
गुरुता न जाती मुझसे है कभी बरणी ।
जानें फिर कैसे शत-मुख[1] पतितों के लिए
श्रेणी मोक्ष की है, अपवर्ग की है सरणी ।

१५१—यह प्रणतों का पंक नाश कर देते सदा
हो रहे हैं यद्यपि महावर से पंकीभूत ।
सम्यक[2] अतुलता निवास करती है यहीं
यद्यपि किये हैं तुला - कोटि[3] - द्वंद अंकीभूत ।
देते अष्ट-सिद्धि नव - निधि हैं प्रशंसकों को
तो भी करते हैं कवियों की मति रंकीभूत ।
यद्यपि कलंक हरते हैं चारों वर्ण का भी
हो रहा सुवर्ण तो भी पद का कलंकीभूत[4] ।

१५२—व्यास-कालिदास-बाण आदि कवि-नायकों के
गान के महान कला - कौशल - निधान हैं ।
शौनक - सनक - भृगु - प्रभृति विचारकों के
एक-मात्र विषय - निरूपण - विधान हैं ।
विधि - वासुदेव - वामदेव की त्रयी से यह
पद - सरसीरुह विहित - व्यवधान[5] हैं ।
सेवकों के प्राण-प्राण के भी यह प्राण — अंब
प्रेम के प्रमाण, सुख-सँपति की खान हैं ।

१-पूर्ण रूप से । २- सर्वथा । ३-बिछुए । ४-सुहाग से युक्त । ५-पूजित, प्रशंसित तथा सेवित ।

१५६—घोष तडिता का भूमि छोड़ भाग जाता व्योम
विकट दहाड़ से पहाड़ भर देता है।
परम प्रभूत पंच - नख का प्रकाश - पुंज
पिंगल सटा का अभिमान हर देता है।
पंच नख वाला यह परम प्रसिद्ध ही है
आपका प्रभाव पंच-शिख[1] पर देता है।
सिंह-वाहिनी का सिंह-सदृश कराल पद
पातक - गजेन्द्र का विनाश कर देता है।

१५७—जिनकी अनूपम नख - द्युति - प्रचुरता ही
मुदित मराल-मंडली - सी छबि छाती है।
जिनकी मँजीर - मरकत - मणि-आभा अति
हरित सिवार - सी नयन हुलसाती है।
संध्या की प्रभात की मनोरम अरुण ज्योति
जिनमें ललाम अभिराम बन जाती है।
अंब ! उन सुखद पदों की मंजु जोड़ी, अहो,
शोणभद्र[2] को भी लज्जावनत बनाती है।

१५८—अंब ! तव चरण हरण है दरिद्रता का
अशरण - शरण विहीन - उपमान है।
विवुधजनों के नत - शिखर - समुच्चय में
गुंफित असेत सुमनों का लेलिहान[3] है।
अति - प्रमुदित-चित्त - विवुध - वधू - प्रदत्त—
रक्त - सरसीरुह - समूह - छविवान है।
प्रणत जनों का दुःख कानन जलाता हुआ
परम प्रचंड बडवानल - समान है।

१-अग्नि। २-सोना नदी। ३-चाटने वाले।

१५९—अंब ! पद-नूपुर - निचय - निनदों[1] के मिष
मंत्र - तंत्र जपता हुआ - सा दृष्टि आता है।
नख - रुचि - व्याज श्वेत-रज लिपटाये हुए
यावक - ललित रक्त-चंदन लगाता है।
मोहन में अघ के, समस्त कर्म-मारण में,
ममता उच्चाटन में पटुता दिखाता है।
चरण तुम्हारा है निपुण गारुडी[2] के तुल्य
निखिल मही पै मोहिनी-सी डाल जाता है।

१६०—नंदन - निकुंज की अनूप कल्प-वल्लरी की
शोभा के महान अपमान के करण हैं।
तरुण - तमारि की मयूख-मंडली को यह
सतत सिखाते अनुराग - आचरण हैं।
पाकर विजय बंधु - जीव[3] के वितान पर
होते एक-मात्र रक्त - म्लान[4] के शरण हैं।
वंदनीय मदन - कदन - कामिनी के वह
मंजुल मरीचि - माल - मंडित चरण हैं।

१६१—जिन चरणों की अति उत्तम अरुणिमा से
संध्या को मिली है रम्य राग[5] की अधिकता।
जिन चरणों की नख-रुचि-सितता से मिली
इन्दु-छबि को भी बिना दाग की अधिकता।
जिन चरणों के कान्ति-कण से मिली है, अंब !
कुन्द-किसलय को पराग की अधिकता।
वे ही चारु चरण जनों के हृदयांबर में
भर दें अनूप अनुराग की अधिकता।

१-शब्दों। २-मंत्र-शास्त्री। ३-गुल दुपहरिया। ४-कटरैय्या (लाल) ५-रंग (लाल)

१६२—दोनों चरणों में नूपुरों की ध्वनि होती मृदु
मंद - मंद कुंजर - गमन से ललित हैं।
बसते सदा ही साधु - सुकृती जनों के चित्त
करते नख - द्युति से तम को गलित हैं।
धरते स - प्रेम जिन्हें शंकर स्व - शीस पर
कोमल कमल कलिका से भी कलित हैं।
अंब ! तव विपुल विभूति से वलित[1] पद
दास के दुरन्त दुःख करते दलित हैं।

१६३—दिन में अनूप सौम्य शीतल कपूर से भी
किरण - कलाप दश नख प्रकटाते हैं।
और, रजनी में शशि - शेखर - मुकुट - मध्य-
मंडित - मृगांक - शीत रस बरसाते हैं।
पद - तल - मिष दोनों साँझ के गगन ताम्र
किसलय - सदृश प्रमोद छिति छाते हैं।
प्राप्त तव चरण - शरण[2] कर लेते वही
जीवन के पथ के पथिक सुख पाते हैं।

१६४—यद्यपि सदा ही मरुतों[3] से यह सेवित हैं,
तो भी इनमें न किसी भाँति की चपलता।
होते रंग - हीन न पुराने पड़ने से कभी
आती इनकी न रक्तिमा में भी विकलता।
गुरु गरिमा से युक्त नूपुर - निनाद - द्वारा
देते उसके हैं अभिमान को विफलता।
अंब ! तेरे युगल पदों का तेज देख - देख
नीरधि में निहित प्रवाल है पिघलता।

१-युक्त। २-चरण-सेवी दास। ३-पवन, देवता।

१६५—मंजु मंडलीकृत महान मणियों से युक्त
निपुण निधान है कटक[1] सुख - दायी के।
फेन - बुन्द - सदृश विलोकि ये विशाल यह
नख - रुचि - जाल - संग आभा अधिकाई के।
बिलस रहे हैं बडवानल - समान जहाँ
यावक - पटल अभिताभ सुघराई के।
घूम ले स - मोद मीन - मन छबि - सागर में
चूम ले अनूप पद चरण - ललाई के।

१६६—जिसने मुषित[2] स्व - जनों की महिमा को किया
पशु - पति अजिन समुज्ज्वल बनाया है।
जिसने प्रफुल्लित किया है जन - मन - कंज
सकल सुरों के मुकुटों को चमकाया है।
जिसने नख द्यु ति से, गति से, महावर से
त्रिविध सुरभि सुख - राशि उपजाया है।
उस पद - पंकज ने, मथना के अंकज[3] ने
कलुष कलंकज[4] को कब न नशाया है।

१६७—प्रणत - जनों का सुख - संपति - विधायक हो
भक्त - मन - मंदिर प्रतिस्वन[5] बसा करे।
होकर प्ररोहित सकल जगतीतल में
प्रेम का प्रसर[6] बन ललित लसा करे।
कर्ण - कुहरों में रति - नायक - अराति[7] के भी
नृत्य मनोमोहक महान सहसा करे।
ब्रह्म - रंध्र - अंतर अनाहत निनाद - सम
मंद - मंद नूपुर - विराव विलसा करे।

१-पायजेब। २-अपहृत। ३-अंक से उत्पन्न होने वाला। ४-कलंक से उत्पन्न हुआ (कलुष) ५-प्रतिशब्द। ६-प्रसार। ७-शंकर।

१६८—मंद-मंद मंजुल क्वणित किंकिणी को सुन
जान पड़ता है, चरणों का न्यास[1] होता है।
भागती है भीति, जागती है उर प्रीति-रीति
फैलती प्रभा में मृदुता का वास होता है।
विनय - विनीत दास-चित्त में सतोगुण की
उज्ज्वल महान महिमा का भास होता है।
होता है समास[2] मुक्तिका यों मम मानस में
दिव्य ब्रह्म-भाव का दृगों में रास होता है।

१६९—नाश करें तम का, विनाश जड़ता का करें,
भूरि-भव-ताप हरें, माया मोह मल दें।
मोद की प्रसूति हो, उदित ज्ञान-पूषण हो,
दास को अनूप सुख - संपति अचल दें।
वे ही यह चरण कि जिनके महावर के
दो ही विन्दु फैल जगती[3] को परिमल दें।
रूप-रंग चंपा को, सुरभि-संग मालती को
शोण[4] अंग कंज को सदैव अविचल दें।

१७०—जगत असत्य है, अनृत[5] व्यवहार सब
कह - कह कुशल - धिषण[6] गये बन को।
दूर करने को पाप - प्रसर प्रयास कर
मौन हुये सारे विषयों से खींच मन को।
नाच उठें मुदित मयूर से वनस्थल में
देखकर चरण अमृत - भरे घन को।
वे ही त्रिभुवन के सकल ताप-हारी पद
उच्च पद मुक्ति का सदा दें दीन जन को।

१-पड़ना। २-संयोग। ३-संसार। ४-लाल। ५-झूठ। ६-बुद्धि।

१७१—अब न पड़ूँगा पाप-पंक सरसी[1] में कभी
बिगड़ गयी है अंब! अब तो सँवार दे।
विनत हुआ हूँ, अब उठ न सकेगा सिर
एक - बार इसको स्व-पद से उभार दे।
काम - क्रोध - लोभ - द्रोह - दंभ दे रहे हैं त्रास
एड़ी से कठोर बेड़ी दुःख की सँहार दे।
एक ही चरण की अनूप एक अँगुली के
एक नख की ही एक किरण प्रसार दे।

१७२—ऐसा कौन विपत जहाँ न पर मारे यह
ऐसा कौन विषय जहाँ न दृष्टि गड़ जाय।
माने न मनाये नवला के नथ-मोती लख,
मुक्ति-मेघ देख दूर जाकर अकड़ जाय।
अब तो थका है, बल-हीन हो रहा है, अंब!
त्वरित त्वदीय कृपा-जाल में जकड़ जाय।
मेरा यह मानस, मृडानि! मानसौक[2] सम
तेरे पद - पंजर में अब तो पकड़ जाय।

१७३—इस जगती में पैर अपने घसीटता था,
पथ में अमाप - ताप फैली धूलि-कण की।
एक भी न पायी ज्ञान-वापी जगतीतल में
देख पड़ी पृथवी समाधि भूत-गण की।
आज सामने ही अति निकट लखाती मुझे
लालिमा सकल फल - दायक शरण की।
चाहता था शीतल पदारविन्द की मैं छाँह
मिल गयी छाया हरि-चंदन[3] चरण की।

१-पाप के कीचड़ से भरी तलैया। २-हंस। ३-चंदन (के समान शीतल)।

१७४—चिंतामणि - रचित हिमाद्रि - गेह - अंगन में
निज चरणों में जब नूपुर सजाती है।
जब गिरिजा ! तू गज-गति से विहार कर
हंस - कल - नाद - तुल्य हंसक बजाती है।
होकर स-लज्ज अभिमुख निज पंजर के
सारिका विचित्र चित्र-लोचना[1] लखाती है।
विशद विपंचिका[2] विरंचि-वाम लोचना की
अपने निचोल[3] में प्रवेश कर जाती है।

१७५—या तो अर्क-गुच्छ से मिली है कुरुविन्द-कली
मंडली - समेत जो महान सुखदायी है।
अथवा, अपूर्व-स्वर्ग-वापी में खिली है, जो कि
ऐसी हेम - कंज - दल-राशि-छबि छायी है।
अंब ! तेरे मंजु पद-अंग अंगुली की तति[4]
देख - देख उपमा अनूप - मन - भायी है।
या तो स्वर्ण-जाती[5] के समेत बन-मल्लिका[6] है
या कि माधवी[7] में स्वर्ण-वल्लिका[8] सुहायी है।

१७६—लज्जित हुयी है गिरी नीर की गँभीरता में
मज्जित हुयी है मंजु मृदुता कमल की।
कंटक-समान हो गयी है खर, आतुर हो
महिमा मृणाल की मही में हुयी हलकी।
पंक[9] हो रहा है नवनीत देख-देख जिसे
सिद्ध हुयी व्यर्थ ही प्रसिद्धि मखमल की।
और इस भाँति की न दूसरी मही तल में
कोमलता अंबिके ! तुम्हारे पद-तल की।

१-आश्चर्यान्वित नेत्र वाली। २-वीणा। ३-ओहार। ४-प्रतान, फैलाव। ५-सोनजुही। ६-चमेली। ७-भद्रलता। ८-भ्रान्ति तथा मीलित अलंकारों का संकर। ७-पंक के तुल्य।

१७७—परम प्रसन्न - चित्त सतत बनाते हुये
चाकर चकोरों को नवेन्दु - छवि-कण हैं।
और, दास-कोकों को महान मोद देते हुये
शरद - नवातप - विनोद - वितरण हैं।
मानस - प्रसन्न - कर सेवक - मधु-व्रतों[1] को
मंजु - हेम - कंज - मकरंद - विंदु - गण हैं।
अंबिके ! तुम्हारे चरणों के रक्त - रंग - ढंग
अंग-अंग जिनके न किनके शरण हैं।

१७८—नख - मणियों से नख - मणि[2] कर पाते होड़
यद्यपि प्रकाश तीनों लोक में वितरते।
वह अनलारुण महान तीव्रता से युक्त
यह करुणारुणा मनोज्ञ - रूप भरते।
वह रहते हैं एक प्राकृत तमोगुण ही
यह हर तीनों गुण मोक्ष हैं वितरते।
वह करते हैं मंद अंबुज, परन्तु यह
सेवक दृगम्बुज प्रसन्न सदा करते।

१७९—जिसको भिगोकर विवेक - नीर - स्रोत-मध्य
मैंने जिसे ओज - शम - शैत्य में समोया है।
और ध्वनि - व्यंग्य - अलंकार - रस-पिंगल के
जोत कर हल से कुभाग्य-घास-खोया है।
सिंचित किया है जिसे स्नेह के अमृत से ही
राह सु-समय मेघ की न कभी जोया है।
चारु - चंडी - चरण - सुधांशु-समुदय - व्याज
आज ज्ञान-शस्य का प्रशस्य[3] बीज बोया है।

१-भ्रमर। २-सूर्य्य। ३-प्रशंसनीय।

१८०—देह - धारियों को बँध - मुक्त करता है जो कि
देता सौख्य शंभु को, मुकुन्द को, विधाता को।
दिव्य - रंग - मंच विश्व - मंगल-प्रवृत्त[1] का जो
काम - तंत्र - मूल - गुरु, रति-क्षति-त्राता को।
घन घनसार - पुंज - रज - सा महान श्वेत
अर्क[2]-गुच्छ-गरिमा - अमृत - घृत - पाता को।
बाँध कर अंजली प्रणाम करता हूँ, उस
अंब ! सित - हासित अनूप - सुख - दाता को।

१८१—अंब ! तेरे मंजु - मृदु आनन - सरोरुह से
फैलती है निकल धवलिमा द्विधारा - सी।
एक रुचि होती नव - मल्लिका - कुसुम - सी है
दूसरी मृणाल - कांड[3]-महस - विधारा - सी।
यह देव - धुनि - सी निकल पड़ती है स्वच्छ
वह हिम - रुचि की सुरुचि - पूर्ण धारा - सी।
सेवकों को निपट निरामय बनाती सदा
भानु - विद्ध-नारा[4]-सी, कृशानु-सिद्ध पारा-सी।

१८२—जिसके समक्ष स्वच्छ द्युति घनसार[5] की भी
कौशल स्वकीय सभी भाँति नित्य खोती है।
सहित - समाज द्विजराज की अनूप छबि
मान के अभाग्य का उदय अति रोती है।
और, मंजु - मल्लिका - कुसुम - निकरों की रुचि
अपनी त्रिजग - प्रियता से हाथ धोती है।
अंबिके ! तुम्हारी वह मंद मुसकान सदा
कामद - प्रभाव - भूमिका - सी ज्ञात होती है।

१-नाच। २-मदार। ३-टुकड़ा। ४-सूर्य-किरणों से शोधित जल।
५-चंदन।

१८३—जो कि घन सार - लेप - तुल्य फैल फैल कर
पृथुल[1] उरोजों पर छबि भरती सदा।
जो कि नील - नेत्र - रजनी में चंद्रिका के सम
भासमान होकर प्रभा को भरती सदा।
और, जो कि सुषमा-सरोवर के मध्य नित्य
मुदित मराल - द्युति अनुसरती सदा।
हिम - गिरि - कन्यके तुम्हारी मुसकान वह
मेरा दग्ध हृदय प्रशान्त करती सदा।

१८४—जिसकी अनूप सितता से अभिभूत बन
कुमुद तड़ाग - मध्य निज को छिपाता है।
और, श्वेतिमा की तुलना में हलका हो चन्द्र
निज लघिमा[2] से दूर व्योम तक जाता है।
जिसका अनूप अवदात - रंग देख कंबु[3]
सिंधु-मध्य करता निवास दृष्टि आता है।
उज्ज्वल अमित वह, आपका हसित वह
मम ममता को नाश करता लखाता है।

१८५—अंब ! तेरी मंद मुसकान की अमित ज्योति
चंद्रिका की सुछबि दिगन्त लौं भगाती है।
मान मथने में सितकाश[4] के प्रकाश का भी
अद्वितीय शक्ति शारदीय दिखलाती है।
और, जब श्वेत करती हुयी महेश - अंग
पिंगल जटा से पद तक फैल जाती है।
आशु[5] तोष देती आशुतोष को प्रभूत वह
भृंगीगण - मानस समुज्ज्वल बनाती है।

१- मोटे। २-तुच्छता। ३-शंख। ४-एक प्रकार की घास जो शरदकाल में श्वेत फूलती है। ५-शीघ्र।

१८६—सब स - चराचर - सुरासर - समाज जब
विजित बनाकर स - मोद लौट आता है।
अंब - उच्च - उरज - सिंहासन - समाधिरूढ़
रति - पति अपना प्रभुत्व प्रकटाता है।
इन्दु - अनुरूप जब अमित अनूप तेरे
चौका[1] की चमक-व्याज छवि-छत्र छाता है।
तब पूर्ण - काम मंजु - आभा-अभिराम, तेरा
मंद - मंद हास श्वेत चमर डुलाता है।

१८७—तांडव - विधान पर नृत्त - अवसान पर
होकर स-हास स्वामि - हृदय - विहारिणी।
बन उपकंठ[2] कंठ डाल के मृणाल - कर
शंभु - शिति - लांछन पै श्वेतिमा प्रसारिणी।
गंग-गरिमा - सी स्वच्छ करती कलिंदजा को
देखी गयी अंब ! तू परिश्रम - निवारिणी।
सुख - संप्रदान[3] वह, अमृत की खान वह
मंद मुसकान वह दास-दुख दारिणी।

१८८—यद्यपि प्रकट अवदात - रंग - वाली, किन्तु
तो भी चन्द्र-चारुता को मलिन बनाती है।
शीत है, परन्तु भगवान आशुतोष जी के
चित्त में मनोज की अनल उपजाती है।
यद्यपि अधर पर आश्रित,[4] परन्तु नित्य
पतित जनों को उच्च पदवी दिलाती है।
अंब ! भवदीय मंद - हास की प्रभा अनूप
सुकवि - जनों में नव्य प्रतिभा जगाती है।

१-आगे के चार दांत। २-समीप। ३-देनेवाली। ४-रखी हुयी अर्थात निम्न दशा को प्राप्त।

१८९—उच्च हृदयस्थल - विलंबिनी अनूप वह
हार की लता को भी विजित कर लेती है।
करुणा - कृपा के स्वच्छ स्रोत में निमग्न नित्य
द्विगुणित विमल विभूति भर देती है।
अपने प्रहर्षण[१] - प्रभाव से निरंतर यों
रम्य - राग - रंजित विरच हर देती है।
कंद - सी मधुर अंब ! मंद मुसकान तेरी
बंद कर पाप, पुण्य खोल धर देती है !

१९०—तेरे मंजु आनन - सरोवर - सलिल - मध्य
वल्लरी भ्रुवों की है तरंग - रंग धरती।
जिस में कटाक्ष से जनित कालिमा की रुचि
भूमिका मनोरम मधुव्रत की भरती।
विकचित विपुल विसज[२] कुसुमों की छबि
वलवत[३] मान उसका भी भंग करती।
अति द्युतिवान, अंब ! तेरी मुसकान मंद
कातर कुभाव मेरे मानस का हरती।

१९१—पल्लव - गणों की या कि पल्लव जनों की मित्र
बंधु - जीव[४]-वाधित कि बंधु - जीव-वाधिका।
परम विशुद्ध द्विज[५] - मंडली मनोरम के
घोर अवमान से निरंतर प्रसाधिका।
तो भी अति विमल विभाव से अनन्वित हो
शंभु - तन - विमल - विभूति - अवराधिका।
तेरे मंद - हास की प्रभा यों अद्वितीय, अंब !
करती प्रसन्न दास - बुद्धि - अधिकाधिका।

१-हर्षित करने वाले। २-विस (कमल नाल) मे उत्पन्न होने वाले पुष्प (कमल)। ३-बरबस। ४-बंधूक। ५-दांत।

१६२—तम से सदा ही द्रोह-भाव रखती है यह
मोद - युक्त कुमुद - सहायता - प्रचारिणी।
जिसके शिरसि द्वैज - चन्द्रमा विराजमान
उस व्योमकेश[1] की शरीर - परिचारिणी।
देव - सुर - ज्ञान अंबुनिधि-वीचिका की नित्य
अपनी चरित्र - चारुता से चित्त - हारिणी।
अंब ! सित कौमुदी समान मुसकान तेरी
मेरी भव - ज्वलन - उदय - अस्त - कारिणी।

१६३—होती है प्रवाहित सहस्र धार होकर जो
हिम - सी शिशिर[2] हिम - शैल - अंतरंगा-सी।
हार मोतियों का हंस - संघ - सा प्रकाशता है
रोमावली - लहरी लखाती एक - रंगा - सी।
उन्नत - उरोज - गिरिराज - शृंग - मध्य चल
बनती सरस रस - रूपक - प्रसंगा - सी।
अति द्युतिमान एरी, मन्द मुसकान तेरी
हरती महान मेरी ताप देव - गंगा सी।

१६४—विलस रही है कंबु - कुल की परंपरा - सी
प्रखर प्रवाहिता कि जन्हु[3] की कुमारी है।
अथवा झरे हैं दिव्य वाणी के अमृत - कण
सुषमा अलभ्य अहो ! जिनकी निहारी है !
होकर स - देह तेरा फैलता प्रसाद या कि
किंवा मालती का गुच्छ समताधिकारी है।
एरी विंध्यवासिनी ! विकासिनी समृद्धि की तू
तेरी मंद - हास किरणों की गति न्यारी है।

१-शंकर। २-शीतल। ३ गंगा के पिता।

१६५—रचना पयोधरों पै श्वेत घनसार की जो
उसको समुज्ज्वल बनाती ज्योति - ज्वलिते !
कर्ण में अराल दन्त - पत्र का महान दंभ
विदलित होता नित्य - नव्य - भाव - कलिते !
रद - सुषमा को विकुरुम्ब[1] - पल्लवों के पुट
विकचित करती जिन्हें तू श्री - तरलिते !
वलित बनाती मम हृदय प्रसाद से है
ललित तुम्हारी मंद - हास - प्रभा ललिते !

१६६—जिनमें अनूप श्वेत विन्दु की लड़ी - सी लसें
अति अभिराम नथ - मोती बड़े ब्यास के।
और, युग हस्त प्रसरित कर दीनता से
पड़ता गले में हार जिनके विकास के।
और फिर जिनकी सुबन्धुता[2] निबाहने को
लाल होंठ चारों ओर कुण्डल बना सके।
मेरी मनोभूमि में प्रसाद उपजावें नित्य
अंबिके ! तुम्हारे वही अंकुर सुहास के।

१६७—क्षीण करती है जड़ता के घोर अंबुधि को
कैरव - वनों को देख - देख डरना ही है।
जिसके प्रभाव से किशोर - चन्द्र - शेखर[3] के
तीनों नयनों को मोद - भाव भरना ही है।
अपनी अनूप गर्व - गरिमा - उदारता से
जिसको स - दर्प इन्दु - बिंब हरना ही है।
अंब ! तेरी उस मुसकान - मंजरी को, अहो,
चंद्रिका बताना परिहास करना ही है।

१-अगस्त्य वृक्ष। २-मित्रता। ३-शिव।

१६८—नख - शिख लखने किशोर - चन्द्र - शेखर को
ऊर्ध्वगामिनी हो जव ऊपर को चढ़ती।
रंका बन देव - धुनि - धारा अति आकुल हो
शंका कर चित्त में जटा से तब कढ़ती।
कंपमान होंठ और कुटिल भ्रुवों को कर
होकर अधोमुख धरा में लड़खड़ती।
वह मृदु - हास - पूर[1] - सुषमा तुम्हारी, अंब !
मन में महेश के महान मोद मढ़ती।

१६६—स्थित - रुचि[2] चंद्रिका तुम्हारे चंद्र - आनन की
सेवक - चकोर मानसों को मंजु भाती है।
इसमें विचित्रता न कुछ भी अनूप, अंब !
यह तो प्रकृति - अनुसरण जताती है।
किन्तु एक बात है अलौकिक, जिसे कि देख
मन में जनों के स्थिरता न नेक आती है।
बिम्ब-से अधर लाल बाल-रवि - बिम्ब - संग
प्रेम करती है, खेलती है, इठलाती है।

२००—अंब ! तेरी मंजु मुसकान के किरण - पुंज
फैलते हैं त्याग मुख - कमल अधीर - से।
उन्नत उरोज - कुंभ - शैल - शिखरों पै सदा
होते प्रसरित हैं स - फेन नल - नीर - से।
पड़ती जहाँ है सान्द्र[3] - रक्त - अधरों की ज्योति
छूटे हों यथैव सांध्य अंशु रक्त - तीर - से।
देख पड़ते हैं अस्त - गिरि पै अनूप अभ्र
विचल हुये जो मंद - शरद - समीर से।

१-प्रवाह। २-जिसकी शोभा एक-सी रहती है। ३ घने।

२०१—तेरी मंजु - मृदु मुसकान के सु - अंकुर ये
अमृत - समान सब भाँति दृष्टि आते हैं।
शरद - सलिल से जनित घनसार - तुल्य
चन्द्रकांत[1] उदल सदृश सरसाते हैं।
मोतियों के हार - से, मृणाल के वलय - सम
शुभ्र शीत - दीधिति - प्रतान इव भाते हैं।
ताप मम मानस की शान्त करने में, फिर
क्यों, हे जगदम्ब ! मंद - ज्योति बन जाते हैं।

२०२—अंब ! तेरी मंद मुसकान की अनूप छटा
उस अर्क - गुच्छ के सदृश दिखलाती है।
जिसमें मृदुल वाक्य - लहरी महान मंजु
माधवी - झरी - सी महा शीत लहराती है।
जिसमें कुमारी[2] - होंठ - सुषमा विलास - युक्त
अथवा पिकी की ध्वनि मृदुता बढ़ाती है।
और जिसे विकसन - शील सृजने के लिए
चितवन शंभु की वसन्त बन जाती है।

२०३—तेरी उस मंजु मुसकान की अनूप आभा
करती रहे मदीय मन में उजाला - सी।
जिससे निवद्ध बिम्ब - अधर - अभूत - द्युति
रंजित बनी है सौम्य सुषमा विशाला - सी।
एरी सार्वभौम - गिरि - तनुजे ! तुम्हारी यह
लीला अति - मादक मधूक[3] - जात हाला -सी।
फैलती महेश - लोचनों में मधु - आसव - सी
गिरती गले में मल्लिका की मंजु माला - सी।

१-चन्द्रमणि। २- गुलाब। ३-महुआ।

२०४—चंचला - समेत शारदीय घन की - सी द्युति
अंब ! तेरी मंद मुसकान दिखलाती है[1]।
चारों दिशा, छहों ऋतु विलस - विलसकर
भूमि में करुण - रस - धारा बरसाती है।
अचरज केवल यही है बन क्रूर शीत
शिशिर - प्रभाव अविराम सरसाती है।
तो भी अति आतुर किशोर - चंद्र - शेखर के
मानस में काम की अनल प्रकटाती है[1]।

२०५—शोभित कटाक्ष कुंज - कुहर - समान यदि
तो वह धवल गुच्छ - सदृश लुभाये क्यों न।
इन्दु - मुख जो है छबि-सिंधु-सा विदित फिर
फेन सा अनूप वह उज्ज्वल लखाये क्यों न।
लसता निरन्तर विजृंभित[2] उरोज - तट
तो वह निचोल-पट-तुल्य दिखलाये क्यों न।
मंद - मंद हसित तुम्हारा जगदम्ब ! वह
मेरे दुख - द्वन्द्व को कवल कर जाये क्यों न !

२०६—अंब ! तेरी मंद - मंद मृदु मुसकान यदि
कवियों से अमृत - समान कही जाती है।
उपमा वृथा की, यह अकथ कथा की, इसे
कोई निधि, कोई सिद्धि किंचित न भाती है।
द्वेष करती है घनसार से महान यह
गंग - गरिमा की समता से कष्ट पाती है।
हार को हराती, कंज कुत्सित रचाती, और
कलित कलाधर कलंकित बनाती है।

१-विरोधाभास। २-खुला हुआ।

२०७—सकल जनों के लोचनों को मोद देती सदा
असित[1] निशा में अभिरामता प्रसारती।
विद्यमान होकर किशोर - चन्द्र - शेखर[2] के
मौलि में त्रिलोक - मान्यता का भार धारती।
अंब ! तेरी मंद मुसकान को विलोकते ही
हो रहा इसे क्यों शोच मेरी मति हारती।
हाय ! अघ-ओघ-हीन चारु चंद्रमा की द्युति
बन स - कलंक स्वीय हृदय विदारती।

२०८—ध्रुव नट - नायक[3] के मोद के विधायक ये
अंब ! सब भाँति मेरा शीतल हिया करें।
सौम्य-साधु - सेवक - चकोर - चय चारु, इन्हें
जान चन्द्र - दीधिति अतंद्र ही जिया करें।
और कलि - कलुष - कमल - दल देख इन्हें
शिशिर - तुषार - पात मान ही लिया करें।
अंकुर तुम्हारे मंद हास के हिमाद्रि - सुते !
काम - कीर्ति - बीज - से कुतूहल किया करें।

२०९—अमृत अवश्य पिया जाता अमरों से, अंब !
दुग्ध का समुद्र अजरों से मथा जाता है।
शम्भु की जटिल जटा-जूट - निगड़ो से अहो !
गंगा का प्रवाह अपने को बद्ध पाता है।
राकापति राहु से है त्रस्त किया जाता और
दिन - दिन क्षीण बन शून्य में समाता है।
वचन - विदग्धता की सीमा पार करने में
आपका हसित[4] अप्रतिम दिखलाता है।

१-काली। २-३-शंकर। ४-हास।

२१०—अंब ! तेरी मंद मुसकान की अभूत आभा
अर्क - सुमनों से डाह करती लखाती है।
और रति - पति सुमनायुध[1] के शासन में
राग[2] का उदय बहु भाँति प्रकटाती है।
चारु चंद्रमा की अमिताभ द्युति मंजरी से
द्वेष करती है, दंभ - युक्त बन जाती है।
शुद्ध साधु - चरित - मयी विभूतियों में यह
क्यों कर अशुद्धता, असाधुता दिखाती है।

२११—घोर-कर्म नामिका निशा के राका - दीधिति जो
काल - व्याल के भी जो गरुड़ कहलाते हैं।
मंगल सकल भुवनों का करते जो सदा
मेरे एक - ध्येय जो अनूप बन जाते हैं।
मुख - सुषमा को वे शिशिर इन्दिरा[3] के अहो !
ऐसा नाशकारी निज रूप प्रकटाते हैं।
मानों अमिताभ अरविन्द - विपिन - स्थल को
तारापति - किरण - समूह बिनसाते हैं।

२१२—प्रक्रम[4] तुम्हारे मंद - हास के, महेश - प्रिये !
एक - साथ चार व्यसनों को पुष्ट करते।
कुन्द[5] अप्रसन्न, शंख - यूथिका[5] विषण्ण कर
मल्ली[5] अभिभावित, मतल्ली[5] रुष्ट करते।
ऐसे हैं विशिष्ट घनसार के प्रसार यह
सुकवि गणों को कल्पना से जुष्ट[6] करते।
एक - मात्र चित्त ही को देते नहीं तोष यह
अपितु जनों के लोचनों को तुष्ट करते।

१-कामदेव। २-आसक्ति। ३-शोभा। ४-प्रसार (बहुवचन)। ५-श्वेत पुष्पों के नाम। ६-युक्त।

२१३—अंब ! तेरी मंद मुसकान के प्रसर - पुंज
कलुष - कलाप नाशने में महा घोर हैं।
प्रेम - करुणामृत - प्रवाह - वितरण - शील
शठता - विटप - प्रलयानिल - झकोर हैं।
करते जनों को हैं अचल इन्दिरा[1] से युक्त
फिर क्यों परस्पर विरुद्धता - विभोर हैं।
कर्म - अर्थ - बाधक, विकर्म - धर्म - साधक हैं
देव - काम - साधु पै अदेव - मोक्ष चोर हैं।

२१४—शंभु गिरि - शीस पै हँसी तो उषा सिद्ध हुयी
फल गयी दिवस - समान हिमवान में।
शाखियों[2] के शिखर सिहर उठे आनँद से
डोल उठा मोद मंजु वल्लरी - वितान में।
भूमि में विकच बने विपुल प्रसून - पुंज
आ गयी प्रफुल्लता कमल कान्तिमान में।
अवलम्ब सत्य शिव सुन्दर हैं पाते सदा
जगदम्ब ! तेरी एक मंद मुसकान में।

२१५—होकर प्रतप्त अघ - ओघ - अर्क आतप से
जो कि था कुकर्म नारकीय गढ़ने लगा।
पाप - पंक - पूरित मही की सरसी में पड़ा
तन पै महान मल भी था मढ़ने लगा।
प्राप्त किया जिसने तुम्हारी मुसकान अंब !
जो कि दुःख - नाश को उदग्र बढ़ने लगा।
वह मन मामकी[4] प्रमोद - उदयाचल की
शृंग - पदवी पर अशंक चढ़ने लगा।

१ लक्ष्मी। २-वृक्ष। ३-आगे। ४-मेरा।

२१६—जैसे किरणों की कान्ति - द्वारा गगनांगन में
मंडल निशाकर का दिव्य रूप पाता है।
अंब.! जिस भाँति शरदागम - समय कंज
हंस - मंडली से युक्त होकर सुहाता है।
अथवा विकस्वर[1] विपुल उडु - संचय से
जैसे व्योम - मंडल मुदित छबि छाता है।
वैसे ही महान पुण्य - प्रथित हसित द्वारा
आपका अनूप मुख - मंडल लखाता है।

२१७—सूर्य्य से भी अधिक प्रकाश विकसाती हुयी
सेवकों का विकट तमोगुण नशाती है।
और, निज रूप से, गुणों से, शील - संचय से
धवल - पताका[2] राका - पति को हराती है।
करतो नरों की जड़ता को जब लीयमान
वदनारविन्द से निकल कर आती है।
अंब ! तेरी मंद मुसकान छविमान वह
रूपक विचित्र चंद्रिका का दिखलाती है।

२१८—लीला - लोल - ललित - कृपा - सरोज - आनन के
आलय के अंगन - स्वरूप छबिधर हैं।
सुकवि - समूह - वाक्य - रचना सुधा की धार
करते सृजन ऐसे प्रतिभा - प्रसर हैं।
मोद - बीज - अंकुर - से सरस अजस्र[3] यह
पुण्य - पदवी के उच्च आसन सुघर हैं।
अंब ! तेरे मधुर मनोज्ञ मंद - हास - वाले
ज्योति के कणों को नित्य नमते अमर हैं।

१-विकसित होते हुये। २-श्वेत ध्वजा वाली। ३-नित्य.

२१६—श्वेतिमा की परम सुभग भव्य भूमिका है
सुन्दर शृँगार की वसति[1] अति बाँकी है।
पूर्ति यह सूक्ति की झड़ी की मोद - दायिनी है
मूर्ति मंजु मधुर महान करुणा की है।
वाटिका कुसुम की प्रतीत हो रही है रम्य
नाटिका मनोरम निखिल नव्यता की है।
क्लेश - हरी मंगल - करी है अरी अंब ! तेरी
हास - प्रभा - चातुरी प्रसूति[2] सुषमा की है।

२२०—भासती है आनन - सरोवर की भूषा - सम
शाश्वत[3] सखी है वाणी परम उदारा की।
विभ्रम की अति सुखकारी मूल - संपति है,
सीमा है त्रिलोचन के लोचन के तारा की।
जीवट अनूप कामदेव की प्रतीयमान,
लीला - भूमिका है गरुड़ध्वज की दारा की।
हास - प्रभा - मंजरी मनोज्ञ जगदम्ब ! तेरी
मौक्तिक लड़ी है कि झड़ी है दिव्य पारा की।

२२१—अंब ! तेरा हसित महान मंत्र - ज्ञाता - सम
विबुध - विलोचन विवश कर देता है।
स्तंभित निशेश को स्वकीय शीतता से कर
विश्व - दग्ध चित्त में उचाट भर देता है।
मोहित महेश को बनाता है विशेष यह
संसृति के डंबर[4] सकल हर देता है।
तो फिर हमारे परिताप नाशने में यह
कंधा किस कारण अहह ! धर देता है।

१-निवास स्थान। २-उत्पत्ति। ३-सर्वदा। ४-आडंबर—काम, क्रोध आदि।

२२२—यों तो तव उन्नत उरोज रंग - मंच पर
विद्युत - प्रकाश - सी सदैव दिखलाती है।
और, फिर विपुल विलास की नटी - सी यह
हाव - भाव - चाव का प्रभाव प्रकटाती है।
किन्तु जब रक्त अधरों पर महान मंजु
विद्रुम[1] की मुद्रिका - सी दाम छबि छाती है।
अंब ! तेरी मंद मुसकान उस पर तब
मोती के नगीने - सी अनूप जड़ जाती है।

२२३—हिम को हिमाद्रि के अतीव साधुवृत्तता[2] से
कान्ति दी, विलोक जिसे हँसता प्रभात है।
विपुल विमलता प्रदान की कुमुद को भी
पाकर कि जिसको विहँस उठी रात है।
चारुता प्रदान की शरद - चंद्रिका को, और
की महा प्रसिद्ध स्वच्छ मोतियों की पाँत है।
तेरी मुसकान विश्व कारिणि ! स्वभाव से ही
कान्त है, विमल है, भली है, अवदात है।

२२४—नाश करे कलुष तुम्हारा अंब ! हास वह
जिसकी महान महिमा को सुर गाते हैं।
जो कि छबिवान, विभु - विभ्रम - विधान, जिसे
सुकवि मदन - मद - मृदन बताते हैं।
जिसकी प्रभा से प्रभवित, तज तांडव को
हाथ गह नाथ[3] भी स - लज्ज बन जाते हैं।
भृंगीगण हँसते विलोक नटराज राज,
शृंगी के समूह मंद - मंद मुसकाते हैं।

१-मूंगा। २-नेकनीयती। ३-शंकर।

२२५—यह जग का पथ महान विकराल, अहो !
इसकी विषमता निगम नित्य गाता है।
सकल धरा है पूर्व - कर्म - कंटकों से पूर्ण
विरला मनुष्य ही स - यत्न पार पाता है।
मेरा मन मूढ़, गूढ़ - ज्ञान - चक्षु से है हीन
और अंधकार चारों ओर दिखलाता है।
तेरा मंद हास मणि - दीपक - विभास, अंब !
करके उजास[1] मार्ग मुक्ति का बताता है।

२२६—मान करने में, अंब ! तेरे पड़ती जो ग्रन्थि
बनती विधुन्तुद[2], ग्रहण पड़ जाता है।
नव्य रति - राका लीन होती शील - अंबर में
प्रेम का प्रभाव छाया - मात्र दिखलाता है।
फिर मुसकान का अनूप चारु चंद्र जब
धीरे - धीरे अपना प्रकाश प्रकटाता है।
एक - टक मंद - मंद हसित विलोकने को
चित्त चंद्रचूड़ का चकोर बन जाता है।

२२७—कुन्द - सी, कपूर - सी तुम्हारी मुसकान शुभ्र
जिसके विलोकने को देव ललचाते हैं।
जिसके अनूप श्वेत अंकुर उरोज पर
प्रकटित होते गौर तार से लखाते हैं।
जिनको गजानन मृणाल[3] के सदृश जान
दुग्ध - पान त्याग जब शुंड लपकाते हैं।
हास की हिलोर से सिहर उठता जो उर
उसको तरंगित सरोवर बनाते हैं।

१-उजाला। २-राहु। ३-कमल-दंड।

२२८—कुछ - ही खुले हुये तुम्हारे अधराधर की
कान्ति नव - पल्लव - प्रभा को अंब ! जनती।
काम-शर-ज्वाला की विशद व्यंजना - सी उसे
देख चंद्रिका भी त्रपा[1] - पंक - मध्य सनती।
हँस पड़ती है घनसार को तुम्हारी हँसी
मारती मृणाल को भी, हार को भी हनती।
फिर किस हेतु मुसकान द्वैज - चंद्रमा - सी
शंभु की सँयोगिनी वियोगिनी यों बनती।

२२९—हिम - गिरि - कंदर के अंदर अकेली देख
धरता स्व - चित्त मनोरंजन - विलास है।
अंब ! तेरे कंबु - से गले में डालता है कर
रचता कपोल निज राग[2] से स - हास है।
भेंटता है उन्नत उरोज की तटी को यह
करता अधर - प्रति चुम्बन - प्रयास है।
तेरा मंद-हास है, कि शंभु - भूति - भास है कि
रति का विलास है कि रति - पति - रास है।

२३०—अंब ! तेरा मंद - मंद हास - परिहास रम्य
सौध - माधुरी का दिव्य - अंगन सजाता है।
शैत्य[3] के विहार की महान पृष्ट - भूमिका है,
विपुल विशदता का सदन सुहाता है।
यों ही तीनों गुण का अपार समाहार बन
एक - मात्र विश्व ही न सुन्दर बनाता है।
अपितु मदीय वाणी - गुंफन समुच्च कर
चारों ओर सुयश अजस्र प्रकटाता है।

१-लज्जा। २- प्रेम। ३-शीतलता।

२३१—जान ही गया री ! भेद तेरे मंद हास का मैं
मान ही गया मैं तेरी प्रकृति पटीयसी[१]।
अघटन - घटना तुम्हारा एक खेल ही है,
विहसित सित प्रभा रखता दवीयसी[२]।
फुल्लता अनूप चंद्रचूड़ - मुख - चंद्र को दे
आप छबि रखता कमल की गरीयसी।
शंभु - नेत्र - कुमुद विभासित बनाते हुये
अंशु रवि का है धरे महिमा महीयसी।

२३२—तेरी मुसकान अंब ! सीमा है विमलता की
सारा जगतीतल विमल बन जाता है।
मानस विमल जिनका है उन मानवों का
भक्ति - रस और भी विमल पद पाता है।
मेरे ही सदृश साधु - सेवक - समूह को भी
प्रभव[३] विमल यश विमल प्रदाता है।
उच्च कवियों की उक्ति करता विमल और
श्रेष्ठ मनुजों की बुद्धि विमल बनाता है।

२३३—ज्योंही तव हसित खसित अधरों से हुआ
लसता अनेक भाँति कान्ति भरता हुआ।
विश्व के त्रिस्रोत को विजित कर श्वेतिमा से
भासता चतुर्थ - स्रोत - सम झरता हुआ।
अथवा समस्त ताप - हरण - क्रिया से युक्त
रूपक अमृत का अनूप धरता हुआ।
किंवा बल देने को मदीप भारती[४] को यह
कामधेनु - क्षीर - सा लखाता ढरता हुआ।

१-चतुर। २-दूर। ३-प्रभाव। ४-काव्य-प्रतिभा।

२३४—पुत्र - प्रति प्रेम की महान रस - राशि यह
गुह[1] को गणेश को प्रमोद - दान - शाली है
पति - प्रति प्रेम व्यंजना में कुशला है अति
रौद्र - चित्त - सरि में शृँगार की प्रणाली है।
और सिद्ध - साधु - संत - सुजन - समाज - मध्य
शान्त - करुणा की नदी - नहर निकाली है।
अंब ! तेरी मंद मुसकान की अनूप कथा
एक है, अनेक कमनीय कला - वाली है।

२३५—जिससे विभीत व्योम - चारी चंद्रमा भी, अहो
ग्लानि मान मेघ - मंडली में छिप जाता है।
परम समुज्ज्वल हसित जो पयोनिधि का
मौक्तिक - समाज शुक्तियों में त्राण पाता है।
और, अति धवल शरद - सरसी - जल में
मज्जित कमल - नाल - यूथ[2] न दिखाता है।
तेरा मंद - हास वह, श्वेतिमा - विलास वह
शैल - सुते ! मेरा कलि - कलुष नशाता है।

२३६—या तो तेरी मंद मुसकान अति आभा - भरी
मेरी सूक्तियों को भाव - शिशिर बनाती है।
या कि मेरी परम - प्रसाद - गुण वाली उक्ति
तेरे मंद - हास - मध्य शैत्य उपजाती है।
इस भ्रम से हो वशीभूत मम मानस में
कोई धारणा[3] न अविचल पद पाती है।
यों ही दिन मेरा बीत जाता, रात आती, और
रात्रि बीतती है, उषा उदित लखाती है।

१-स्वामि कार्तिक। २-समूह। ३-दृढ़ विचार।

२३७—हिम - गिरि - शिर पै शरद - सांध्य - राका देख
शंभु ने स - प्रेम दृष्टि मुख में गड़ायी थी।
तब तेरे परम प्रमोद के पयोनिधि में
सहित - कुतूहल हिलोर एक आयी थी।
जिसने उछाला था स - फेन बीचि[1] वासना की
और जो कि ललित - ललित लहरायी थी।
तेरे मंद हास की वही है परिभाषा, जिसे
कवि उशना ने उषा - काल में बनायी थी।

२३८—चंडिके! मृडानि! शिवे! सर्व-मंगले! भवानि!
हृदय - पयोनिधि तुम्हारा लहराता है।
राग[2] के महान मंदराचल से क्षुब्ध बन
फेन - मिष हास अधराधर पै आता है।
श्री है, कि सुधा है, कामधेनु है कि चंद्रमा है,
कौतुक - समेत शंभु - चित्त तर्क लाता है।
और तीनों लोचन त्रिलोचन के होते मुग्ध,
तरल तरंगमयी प्रीति उपजाता है।

२३९—मेरे तीनों ताप एक हास ही से होंगे दूर,
हसित तुम्हारा ऐसा प्रकटित होता है।
हास्य - सुरसरि के तरंग - जाल - मध्य, मेरा
मन भी निमज्जित सहित - हित होता है।
मानस अजस्र मार[3] - मारुत - प्रचार - वश
परम प्रमोद - युक्त उच्छलित होता है।
प्रेम - इन्दु देख प्रतिबिंबित इसी में, अहो!
शंभु का कुतूहल अमित नित होता है।

१-लहर। २-प्रेम। ३-कामदेव।

२४०—होता है प्रतीत सारा विश्व अग्नि - कुण्ड - तुल्य
ईति - भीति[1] - संकुल महान दुःखदायी है।
पूर्व - कृत कर्म की अनिल चलती है घोर,
एक गुनी गति है, तो प्रगति सवाई है।
काम - क्रोध ईंधन - से तीव्र करते हैं जिसे
चिन्ता ने चिता - सी मम चित्त में जलायी है।
तेरे नथ - नीलम से होके मुसकान श्याम
ताप को बुझाने मेघ - मंडली - सी आयी है।

२४१—शंख भवदीय मुसकान को विलोक कर
पीला पड़ा कुछ, और कुछ सोचने लगा।
संभ्रमित होके सितता ली शीत - दीधिति से
क्षीर - सिंधु से भी शुभ्रता को नोचने लगा।
तेरे मंद हास की अजेय अनवद्यता[2] को
जान निज कौतुक स - ग्लानि मोचने लगा।
आसन जमाकर समाकर स्वतंत्रता से
तेरे अधरों पर अनूप रोचने[3] लगा।

२४२—तेरा मंद हास पूर्ण - विधु के विकास - तुल्य
जब सुहृदों के हृदयांबर में आता है।
भक्त जन सारे अनुरक्त इस भाँति होते
भाव - सिंधु उनका समुच्छल लखाता है।
मुझ से वराक[4] कवियों का भी अभाग्य - तम
वदरी - निबद्ध[5] कदली - सा फट जाता है।
कैरव - कलाप - सा त्रिजग - तल में न कौन
सौम्य साधु - सुजन - समाज सुख पाता है।

१-कृषि के विघ्न। सांसारिक दुःख। २-अछूतेपन को। ३-रुचिकर होने। ४-बेचारे। ५-बेर के काँटों में फँसा हुआ।

२४३—मेरे काम - क्रोध - द्रोह - दंभ को हरेंगे, अंब !
तेरे मंद - हास के मयूख अघ - हर हैं।
रचते प्रकाश चंक्रमित - ज्योति - मंडल - से
पूर्ण - विधु - विम्ब के विधायक प्रवर हैं।
करते प्रशान्त कर्म - धर्म की महान ताप
रूप में सु - कोमल, प्रभाव में प्रखर हैं।
परम - प्रमोद - वारि - धारा बरसाते हुये
अमृतापगा[1] के शुभ्र सीकर - निकर हैं।

२४४—अंब ! तेरा आनन स्वभाव से ही सुन्दर है,
परम मनोहर है, शोभा - काम - बन है।
और फिर उसमें मधुर मुसकान मंजु
नव्यता - निवास है, मनोज्ञता - सदन है।
शरद - प्रभा है परिणाम - रमणीय[2] जैसे
शरद - तड़ाग जैसे विमल - वदन है।
और, फिर उसमें कमल का विकास रम्य
चारुता - अयन[3], अभिरामता - भवन है।

२४५—प्राणधारियों के जन्म - मृत्यु की महान ताप
शैत्य के सदन बन नाश करते सदा।
अमित अनिग्रह[4] अनुग्रह से पूरित हो
शीत - रुचि - वाली नव्य काँति धरते सदा।
अंब ! तेरे मंद - मंद हास के अमंद अति
मंजु आभा - अंकुर प्रमोद भरते सदा।
मेरी अंध - तमस - जनित दृष्टि - हीनता को
अपने विभास से स - हास करते सदा।

१-अमृत की नदी। २-परिणाम (संध्या एवं फल) में रमणीय। ३-घर। ४-स्वतंत्र।

२४६—अंब ! आज तेरा यह सुखद स्वरूप सौम्य
प्रेम लतिका की देह धरता लखाता है।
जिसमें अनूप सित हसित लसित ऐसा
मानों अति धवल प्रसून छबि छाता है।
जो कि अमिताभ आशुतोष के विलोकने से
कुछ - कुछ विकचित[1] होता दृष्टि आता है।
पुलकित भाषण से रखता कली का रूप,
कंठ में लगाने से प्रफुल्ल बन जाता है❀।

२४७—उज्ज्वल महान अंब ! तेरी मुसकान देख
शंभु भगवान यों विवश बन जाते हैं।
समता समुंज्ज्वल प्रभा की धारने में वह
श्रान्ति - हीन भाव में स - चाव सन जाते हैं।
इन्दु को उठा के भाल - मध्य रख लेते द्रुत
सिर धर गंगा को स - हर्ष तन जाते हैं।
श्वेत अंग - अंग में विभूत के विलेप होते
श्वेत - रंग[2] भंग के गिलास छन जाते हैं।

२४८—तेरे परिहास के प्ररोह - युक्त अंकुर ये
दिव्य, रम्य, शैत्य - सार - संयुत महान हैं।
धाम हैं महान अभिराम अनवद्यता[3] के
परम पवित्रता के अंतिम विधान हैं।
शंभु - शिर - खसित सुरापगा के वारि - सम
स्वच्छ हैं, सु - शीतल हैं, पूतता - प्रधान हैं।
मेरी कलि - कलुष - मलिन प्रतिभा का पंक
धोते सावधान शुभ्र ज्ञान के निधान हैं।

१-खुलता हुआ। ❀ उत्प्रेक्षा के प्रकाश में रूपक ही हंस रहा है।
२-बादामी। ३-पवित्रता। अछूतापन।

२४९—तेरी मंद - मंद मुसकान की अमंद कान्ति,
जिसको विलोकते निरंतर ही हर हैं।
प्रकटित होती है हिम - द्युति - मयूख - तुल्य
प्रचरित जैसे इन्दु - अंशु के निकर हैं।
दाख से, सिता[1] से, मधु से भी जो जनित, उस
मेरे दिव्य - वाणी - जन्य कौशल के घर हैं।
स्वर्ग - अपवर्ग[2] की सरणि[3] दिखलाते हुये
दासों के मलीन मानसों के मल - हर हैं।

२५०—तेरा श्वेत - हास वह, अमृत - विकास वह
केवल न रुद्र में मधुर भाव लाता है।
अपितु[4] अनूप प्रेम - अंकुर - प्ररोह - युक्त
भूति - भरी देह को अजस्र प्रकटाता है।
मंद मुसकान की महान महिमा के गुण
कौन कवि गाकर नितान्त पार पाता है।
होती मान - भंगा है शिरस्थ दिव्य गंगा, और
चंद्रमा स - लज्ज हो जटा में छिप जाता है।

२५१—करता विमानित अजस्र द्विजराज को है
तो भी द्विज-राजि[5] के प्रमोद का विधाता है।
वाणी से सदा ही अति दूर रहता है तो भी
वाणी-साहचर्य्य[6] को महान सौख्य-दाता है।
यद्यपि अवश्य असुलभ पशुओं[7] को यह
तो भी पशुपति की प्रसन्नता बढ़ाता है।
तेरा मंद हसित अमृत बरसाता हुआ
मुझ म्रियमाण[8] को भी अमर बनाता है।

१-मिश्री। २-मोक्ष। ३-सीढ़ी। ४-फिर भी। ५-दाँतों की कतार
६-अर्थ। ७-मूढ़। ८-मृत-प्राय।

२५२—कमल - कलाप की अनूपम विमलता को
दिव्य सरसी में शरदागम बढ़ाता है।
और, चन्द्रमा की अभिराम चारु चंद्रिका को
अधिक मनोरम निशागम बनाता है।
कान्ति मोतियों की यों तो सहज प्रशंसनीय
फिर भी सुधा[1] का लेश ललित दिखाता है।
किन्तु तेरा हसित स्वभाव से स्वतंत्र, सदा
स्वच्छ, स्वच्छतर, स्वच्छतम छवि छाता है।

२५३—हरण किया है हर - हृदय अवश्य, किन्तु
चन्द्र एक - मात्र उष्णता का नाशकारी है।
किन्तु तेरे हास के विभास में अनेक गुण
सचमुच अकथ कथा है, गति न्यारी है।
ताप मेटता है यह दीन दुःखियों का सदा
नव्य प्रतिभा की महिषी का प्रतिहारी[2] है।
प्रथित प्रभाव से प्रपूर्ण करता है विश्व
कलित - कलित काव्य - कीर्तिका प्रचारी है।

२५४—अंब ! मंजु मृदुल मनोज्ञ मंद हास तेरा
जिसका विभास तीनों लोक में लखाता है।
मांडलिक[3] भूप का अनूप रखता है रूप
राज राज - पद का समादर बढ़ाता है।
देख के प्रभाव युवराज बन जाता चंद्र
अमृत सु - सेवक - समान सरसाता है।
गांग वारि सचिव - सदृश करता है कार्य
शंभु - भूति होती महिषी-सी, कवि[4] गाता है।

१-चूना। २-द्वारपाल। ३-चक्रवर्ती। ४-श्री भगवती महारानी के दरबार का चारण—स्वयं ग्रंथकर्ता।

२५५—अति सुखकारी गति चंचल तुम्हारी वह
मुखरित मेखला बनाती जो कि पल में।
चालन भ्रवों का, परिचालन दृगों का वह,
जो कि अभिराम ख्यात संसृति सकल में।
कैसे मोह पाते रति - पति - गति-हारी[1] - उस
रुद्र को विचित्र चैत्र - पूर्णिमा विमल में।
होती जो न तेरी मुसकान अग्रगामिनी, माँ!
अभिनंदनीय - वन्दनीय भूमि - तल में।

२५६—साधुओं के चित्त को तरल करता है जो कि
मन में खलों के वही जाड्य भर देता है।
रम्य राग - व्यंजन में कुशल अतीव जो कि
विमल प्रभाव शंभु - चित्त धर देता है।
सौम्यवादिता का अग्रगामी बनता है तो भी
वाणी की स्वतंत्रता प्रसह्य[2] हर देता है।
अंब! तेरे हास का विलास है अकथनीय
मेरी कविता को कथनीय कर देता है।

२५७—हिम-गिरि - शिखर - विहारिणी! त्वदीय यश
गाते साधु, किन्तु वह सम्यक[3] न गाते हैं।
चन्द्र - सा किशोर - चंद्र - शेखर विलोक मुख,
लोचनों को अपने चकोर - सम पाते हैं।
और, उस आनन से निःसृत मनोज्ञ हास
करते ग्रहण नथ - मोती मुसकाते हैं।
नथ - मोतियों को देख मानस - मराल - वृन्द
मानस के मोती न उगलते, न खाते हैं।

१-शंकर। २-बरबस। ३-भली भाँति से।

२५८—अहह ! तुम्हारा मंद - हास क्षीर - सागर - सा
ज्ञात होता चन्द्रमा उदित करता हुआ।
या कि क्षीर - सागर ही होकर तुम्हारा हास
काम - तरु पल्लव निकाल धरता हुआ—
दोनों एक - तुल्य, किन्तु भेद हैं अनूप एक,
क्षीर - सिंधु देता इन्दिरा[1] ही डरता हुआ।
तेरा मुग्ध हास इन्दिरा से और भारती[2] से
देखा गया दास का भवन भरता हुआ।

२५६—अंब ! तेरी लसित हसित द्युति - मंजरी यों
जैसे कि विदग्धता[3] की बेलि लहराती हो।
देती हो शिरीष के सुमन को सुकोमलता
कंज में मनोहर प्रभाव प्रकटाती हो।
काश को प्रकाश - श्वेतता से करती हो धन्य,
दास में विकास प्रतिभा का दिखलाती हो।
चंद्र को हँसाती, कंबु पर हँसती हो नित्य,
यों ही खेल खेल सदा हँसती - हँसाती हो।

२६०—वह मुक्त[4] - गण का अवश्य करता है त्याग
यह तो उन्हीं की एक - मात्र प्रीति - शाला है।
वह भागता है दूर - दूर धूत मानसों से
इसने उन्हीं को सब भाँति प्रतिपाला है।
उसका निवास सदा जल के समीप में है
यह जड़ - भाव से अरात[5] वास - वाला है।
लोग जिस शंख को बताते श्वेत - रंग, अंब !
तेरे मंद हास के समक्ष वह काला है।

१-लक्ष्मी। २- सरस्वती। ३-पाण्डित्य। ४-मुक्ति-युक्त अथवा मुक्ता।
५ दूर।

२६१—मानवती ! तेरा मान भंग करने को जब
काम - वाम शंभु चरणों पै सिर लाते हैं।
होता अनुराग का प्ररोह तेरे मानस में
हृदय - कमल के पटल रंग पाते हैं।
आता राग झलक अनूप मंजु आनन में
देख बन्धुजीव के प्रसून मुरझाते हैं।
बिम्ब - फल होंठ के सुहृद बनते हैं और
होंठ मंद हास के वयस्य[1] बन जाते हैं।

२६२—अंबिके ! तुम्हारे मुख - चन्द्र के विभूषण - सा
मंद हास परम प्रमोद बीज बोता है।
नयनाभिराम इतना कि देख - देख जिसे
हिमकर कालिका - कलंक नित्य ढोता है।
शीतल अनूप इतना कि हिम - जल का भी
शैत्य ताप - युक्त निज भाग्य पर रोता है।
श्वेत इतना कि समाहार[2] मंजु मोतियों का
कान्ति - हीन बनता मलीन दीन होता है।

२६३—तेरे मंद हास के समुज्ज्वल प्रकाश पर
बिम्बाधर - बिम्ब रंग रक्तिम चढ़ाता है।
स्फटिक शिला से या निकल जल जाह्नवी का
बहता मँजीठ - बन - बीच रंग लाता है।
बाल - रवि - किरणावली से अति रंजित हो
शरद - पयोद - पुंज ललित लखाता है।
अथवा त्वदीय उत्तरीय अरुणाम्बर[3] का
छोर हिम - गिरि की शिला पै फैल जाता है।

१-मित्र । २-समूह । ३-लाल ओढ़नी ।

२६४—अंब ! तेरी मंद मुसकान की अनूप आभा
फैलती अजस्र अमिताभ श्वेतिमा लिये।
घेर रहीं जिसको प्रलम्ब कुंतलों की लटें
सर्पिणी - समान काल - कूट की घुटी पिये।
ज्ञात हो रही है दीप्त लहरी निशाकर की
नील नीरदों में व्याप्त अपनी प्रभा किये।
यमुना परिधि - सी बनी है जाह्नवी की या कि
बाँध रही चरण निगड़[१] भुज की दिये।

२६५—कुन्द - इन्दु - कुंबुक - तुषार - हार से भी श्वेत
शुभ्र आवरण से समावृत[२] लखाती है।
चारु चतुरानन की चतुर चहेती[३] बन
वाणी - वीचि - विभव - विलोड़ित दिखाती है।
रुद्र - अक्ष[४] करती ग्रहण अति आदर से
फुल्ल - धवलारविन्द अधर बनाती है।
तेरी मुसकान अंब ! सुषमा सरस्वती की
धारण किये है, तो भी शंभु - मन - भाती है।

२६६—होड़ करता न जो तुम्हारे मृदु हास से तो
होकर कलानिधि कलंक में समाता क्यों।
शक्ति भी मिली थी विश्व - ताप अपनोदन की
तो फिर वियोगिनी की विपदा बढ़ाता क्यों।
प्रथित[५] हुआ था नयनानँद - प्रदाता बन
होता न प्रदोषी[६], खंड - खंड बन जाता क्यों।
व्योम सरसी में पुण्डरीक - शुष्क - पत्र - तुल्य
चन्द्रमा विचारा दिन - रात छितराता क्यों।

१-शृंखला। २-लिपटी हुयी। ३-प्यारी। ४-शंकर की आँख अथवा रुद्राक्ष-माला। ५- प्रसिद्ध। ६-संध्या-समय उदित होने वाला अथवा स-दोष।

२७०—तेरा मृदु हास सुधा - शीतल महान, अंब !
सकल धरा में मोद - बारि बरसाता है।
दासों की विपत्ति को शमन करने के लिए
धारा करुणा की अति विपुल बहाता है।
जन - तृण - गुल्म - से पनप उठते हैं द्रुत
देव - यूथ गहन - समान सुख पाता है।
इन्द्र की वधू[1] - सी इन्दिरा भी तुष्ट होती और
अज की प्रिया[2] - सी अब्जिनी[3] में सौख्य आता है।

२७१—तेरे मृदु हास की विलोक श्वेतिमा को, अंब !
खोजने को उपमा, कहा जो शिष्य - वृन्द से।
देखकर इसकी विमलता महान मंजु
सोचा गया दुग्ध लघु - यापु घनानंद से।
बोला कृपानाथ, "आर्य ! उपमा अनार्य यह
सोचा घनानन्द ने तृतीय नेत्र[4] मन्द से।
दुग्ध न निकलता कदापि दुहने के बिना
यह कढ़ता है एक अपनी पसन्द से"।

२७२—तेरी हास - चातुरी महान सुख - दायिनी है
मोद भरती है साधु - सेवक - सदन में।
क्षेम करती है कलावान कवियों का[5] सदा
रचती प्रफुल्लता त्रिलोचन - नयन में।
अथवा अनुग्रह - महीरुह[6] का स्वादु - युक्त
सुफल फला है दास - हृदय - गगन में।
किस सुकृती को न अमर - फल होता प्राप्त
जा के कौन अजर[7] न होता त्रिभुवन में।

१-बीर-बहूटी। २-सरस्वती (नदी)। ३-कुमुदिनी। ४-बुद्धि।
५-चंद्रमा शुक्र आदि का। ६-वृक्ष। ७-जरा-हीन।

२७३—मार मारने को बना उद्यत - विकास आज
आनन - शिविर से निकल कर आया है।
होकर सु - सज्जित भ्रुवों के विशिखासन[1] से
लीला लोक - बाणों का प्रसार प्रकटाया है।
विभ्रम महीप का अनूप अग्रगामी भट
जो कि सुषमा का तन - त्राण सज धाया है।
अंब ! मृदु हास तेरा अमर - अनीकिनी[2] का
सेनापति हो न क्यों ? तुम्हीं से जन्म पाया है।

२७४—अंब ! तेरी मंद मुसकान का विकास स्वच्छ
निकल विमुग्ध मनोमंदिर से आता है।
होता है सुशोभित अधर देहली पे दिव्य
प्रथित प्रकाश चारों ओर फैल जाता है।
उर पै विलम्बमान माणिक के हार - मध्य
ज्योति रवि - किरण - समान प्रकटाता है।
मानों जटा जूट में महानुभाव शंकर के
जाह्नवी - प्रवाह धवलिम छवि छाता है[3]।

२७५—मंद - हास - लहरी तुम्हारी अति कांति - युक्त
चंद्रिका अलौकिक प्रमोद - अनुगामिनी[4]।
इसकी प्रभा है मृत्यु - लोक में अदृश्यमान
देव-सुख-दायी, अहो ! अंब ! विश्व-स्वामिनी।
केवल उरोज के सरोज ही खिलाती नहीं
केवल न रहती उदित दिन - यामिनी।
आपके मुखारविन्द को भी सु - प्रसन्न कर
हृदय - कमल विकसाती अभिरामिनी।

१-धनुष। २-सेना। ३-उत्प्रेक्षालंकार। ४-आनन्द जिसके पीछे पीछे चलता है।

२७६—अंब ! तेरी मंद मुसकान की अनूप आभा
आनन - विवर से निकल जब आती है।
श्वेत - शरदम्बुज - समूह को विभिन्न कर
रवि - कर - सदृश प्रकाश प्रकटाती है।
तेरे अति - उन्नत - उरोज की द्वयी[1] पै तब
ऐसी प्रतिबिम्बित अनूप छबि छाती है।
मानों तुंग - तरुणी - वितुंड - युगली[2] के अंग
झूल मोतियों की पड़ी सुषमा बढ़ाती है।

२७७—तेरी मुसकान मूर्तिमान शरदम्बुज - सी
प्रेमानिल - हृत - हृदयांबर में फिरती।
और मदनारि[3] - कंठ - सुषमा - समुद्र - मध्य
धीरे - धीरे धावन लगाकर है गिरती।
काश - कुन्द - कंबु सी धवल अमिताभ छबि
तव इस भाँति श्याम - शालिमा से घिरती।
सत्य करती हुयी अनूप काली - रूप मानों
सावन - घटा - सी नील - नीरधि में तिरती।

२७८—अंब ! तेरी मंद - मुसकान - मंजरी है दिव्य
जिसकी त्रिलोकज सुगन्ध अनुयायी है।
चंद्रिका - समान शान्तिकारिणी बताते इसे
जिनको तुम्हारे चरणों की रज भायी है।
किन्तु चन्द्र - ज्योति हरती है ताप संसृति की
मानसिक कालिमा न इसने नशायी है।
तेरा मन्द हास एक ताप हरता ही नहीं
ध्वान्त[4] भी विनाशता है, ऐसा सुखदायी है।

१-२-जोड़ी। ३-शकर। ४-अंधकार।

२७६—मेरे मानसिक ताप विपुल विनाश करे,
तेरा मन्द हास जो कि त्रिजग - विजेता है।
जो कि विश्व-सुषमा-सरोजिनी-मृणाल - तुल्य
भृंगी - गण[1] - सुलभ महान मोद देता है।
जो कि मोद - सिंधु के तरंगित विलास - सा है
अथवा, मुखारविन्द - हंस - रूप लेता है।
और, जो कि हिमिगिरि - श्रृंग - रंग मंच पर
हो रहा अनूपम अमर अभिनेता है।

२८०—मोद - अंधकार के विनाश करने के लिए
डालते जो हृदय - शिविर[2] - मध्य डेरे हैं।
सुकवि अनूप को प्रदान करने को काव्य
प्रतिभा - चरित्र के विचित्र जो चितेरे हैं।
और जो कि साधु - संत - चित्त को प्रशान्त कर
शंभु में विरचते विलास बहुतेरे हैं।
अमिताभ सुघर अमर - अभिनंदनीय
वंदनीय करुण कटाक्ष वह तेरे हैं।

१-शंकर के गण अथवा भ्रमर-गण। २-निवास।

दृष्टि-पात

इस वर्ग में कवि ने १०३ छन्दों में श्री भगवती के केवल अवलोकन का ही वर्णन किया है। अन्य भाषाओं के तथा हिन्दी के भी अनेक कवियों ने नेत्र-विषय पर अच्छे-से-अच्छे भाव प्रकट किये हैं। इस वर्णन को लेकर दो-एक संग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें अन्यान्य कवियों के नेत्र-विषयक छन्द संकलित किये गए हैं। विषय भी ऐसा है कि इस पर जितना भी लिखा जाय थोड़ा ही है। नेत्र-पथ-द्वारा ही दो हृदयों का सम्मिलन होता है। इस त्रिवेणी में स्नान करके प्रेमी-जन मुक्ति का अनुभव करते हैं।

केवल अवलोकन पर ही इतने छन्दों का निर्माण कवि की शक्ति का एक-तंत्र परिचायक है। कहा भी है:—

कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

ऐसे कवि भी सुदुर्लभ ही हैं जो भाषा के साहित्यिक सम्मान को

बढ़ाने में योग देते हैं। कहना न होगा कि अनूप जी का भी स्थान उन्हीं महाकवियों में है जो अपनी प्रतिभा से साहित्य को सम्पन्न कर रहे हैं।

अन्य वर्गों की भाँति इस वर्ग में भी कवि ने विभिन्न रूपकों से काम किया है। श्री शर्वाणी का वरद, सुषमा-संयुक्त, स-प्रेम अवलोकन पुल्लिग होकर महाभारत, करभ, कल्प-वृक्ष, वसन्त, अगस्त्य, शंकर, काम-वाण, कमल आदि की सुषमा बड़ाता है और स्त्रीलिंग होकर संध्या, कालिन्दी, त्रिवेणी, मेघ-माला, भृंग-माला, बार-बधू, अलका, वर्षा, चन्दिका आदि की शोभा में संवृद्धि उत्पन्न करता है। कभी वह तंत्र बन जाता है तो कभी मंत्र, कभी पुष्प बनता है तो कभी बाटिका; कभी यमुना तो कभी त्रिवेणी। पढ़ते-पढ़ते आपके नेत्रों के संमुख एक ऐसा चल-चित्र-पट उपस्थित हो जाता है कि कौन छन्द अधिक सुन्दर है इस प्रश्न के निर्णय में आपकी साहित्यिक क्षमता पर एक भार-सा आ पड़ता है तथा कवि की सर्वतेमुखी प्रतिभा का एक ज्वलन्त उदाहरण आपके नेत्रों के संमुख नृत्य करने लगता है।

२८१—मोह - जाल - जटिला प्रवृत्ति रच देता खिन्न
करता अजस्र[1] छिन्न - भिन्न ममता का दाम।
नीलिमा प्रदान कर देता अंतरिक्ष को भी
रजत - महेन्द्र को कलिन्द को बनाता श्याम।
सकल धरा की ईति - भीति को विनष्ट कर
होता है सुरक्षित त्रिलोक भी सकल याम।
लक्षण यही कि वरदान में विचक्षण है
अंब! अवलोकन तुम्हारा नयनाभिराम।

२८२—मंत्र मकरध्वज का, तंत्र काम - कामिनी का
यंत्र मधु - ऋतु का निरंतर चलाती है।
मंद - मंद घूमती, अमंद छवि लोचनों में
पुत्तली को आस्य[2] - कंज - भृंग - सी बनाती है।
होकर विताडित युगल श्रुति - सीमा तक
तरल - तरल हाव - भाव प्रकटाती है।
अंब! अति पावन परम सुषमा की मूल
मंजु दृष्टि आपकी, प्रमोद उपजाती है।

२८३—होता जो कि अतुल तरंगित निरन्तर ही
नेत्र मम स्वीय करुणा से भरता रहे।
होकर अलंकृत त्वदीय मंद - हास - द्वारा
विपुल विलास का विकास धरता रहे।
जो कि कल कुंचित अनूप अति अंचित[3] हो
घन - सा कथंचित स - घन झरता रहे।
अंब! वह आपका स - प्रेम अवलोकन ही
मेरा दग्ध हृदय प्रशान्त करता रहे।

१-निरन्तर। २-मुख। ३-पूजित।

२८४—शल्य - सी अमोघ गिरती है शुभ - वक्ष पर
देख भीष्म- रूप भीम एक - टक तकते।
पाण्डु पड़ जाते पत्र सुघर सरोरुह के
दैत्य - सह[1] देव वन भ्रान्त - से अटकते।
अंग -राज शिर घूम जाता धर्मराज का भी
व्यास को बढ़ा के जब लोचन ललकते।
अंब ! दृष्टि - पात में तुम्हारे महाभारत के
शूर - वीर - सैनिक - समूह हैं झलकते।

२८५—मेरे परिताप के प्रखर दिवसाधिप को
अस्त कर देता बन्द होता जल - जात है।
और मम परम प्रमोद - निशिनायक को
पूर्ण - रूप करता उदित अवदात है।
भू के भूरि - भूरि भेद - भाव मिट जाते सब
मोहता विचार के विहंगमों का व्रात[2] है।
अंब ! अवलोकन तुम्हारा योग - निद्रा - कर
मुझको निशागम - समान प्रतिभात[3] है।

२८६—दोनों कर्ण - फूलों से निकल मणियों की ज्योति
शुभ्र दन्त - कांति - सी मनोरम प्रकाशती।
होकर विराजमान ऊपर महावत - सी
करुणा त्वदीय, अंब ! मंद चाल नाशती।
अटवी विनष्ट होती अशुभ अमंगल को
हुंकृति[4] अभीति - वरदान ही विकासती।
तेरी चितवन घूम - घूम के अनिग्रह - सी
विग्रह - सी तरुण मतंगज की भासती।

१-सहित। २-समूह। ३-दिखाता। ४-हुंकार। हाथी का शब्द।



२८७—छाया बहु - वितत त्रिलोक - सुख - दायिनी है
नाश कर देती परिताप की विषमता।
मंजु कर्ण - फूल रत्न - मणि के समान दिव्य
पल्लव - समस्त अंशु[१] सूर्य्य का न थमता।
और मकरन्द - व्याज करुणा - प्रसार देख
जीवन - पथिक चिर कौन न विरमता।
अंब ! अवलोकन तुम्हारा अमिताभ, प्रति
प्राप्त करता है सुर - पादप की समता।

२८८—लसती परम - हंस - हृदय - प्रसन्न - कर
पाप नाशने में धर्मराज की स्वसा[२] - सी है।
कलित - कलित मणि - कुण्डल - वलित छवि
कोकनद - कानन - चलित द्युति खासी है।
बाल-चन्द्र-भाल[३] के विशाल दिव्य आनन की
कान्ति भेंटती है जो कि देव - आपगा-सी है।
आनँद - विकासी, अंब ! विभव - विलासी यह
चितवन आपकी कलिन्द - कन्यका[४] - सी है।

२८९—धारण किये है मरुतों[५] के अनुकूल भाव
श्रावण[६] - तटी में छविवान हो दरसती।
इन्द्रचाप - सदृश भ्रुवों का है विलास मंजु
सरस बनाती रोदसी में जो सरसती।
कौतुक से होकर तरंगित अजस्र जिसे
नील - कंठ - मंडली विलोक के हरषती।
अंब ! वह आपकी अनूप चितवन, मेरी
मन - मेदिनी में मेघ - माला - सी बरसती।

१-किरण (प्रकाश)। २-बहिन। ३-शंकर। ४-यमुना। ५-देवता या वायु। ६-नक्षत्र विशेष अथवा कान।

२६०—या तो कुन्द - कम्बु - श्वेत गंगा के प्रवाह-मध्य
राजती मनोरम कलिन्द - कन्यका - सी है।
या कि गंगाधर के वितत[1] हृदयस्थल पै
नवल सरोरुह - ग्रथित - मालिका - सी है।
अथवा तुम्हारे मंजु आनन - प्रभा - सर में
फैली हुयी सुषमा सिवार - जालिका - सी है।
अंब ! भवदीय अवलोकन - प्रभा अनूप
काम - किन्नरेश की मनोज्ञ अलका - सी है।

२६१—या तो भस्मसात[2] कुसुमायुध जिलाती हुयी
सुभग सँजीवनी जड़ी - सी प्राण - धारी है।
अथवा किशोर - चंद्र - शेखर के मानस को
मोहने में मोहिनी वटी - सी अति प्यारी है।
जड़ करती हुयी त्रिदोष निज सेवकों के
या यह मृगांक[3] - पदवी की अधिकारी है।
खोल देती ज्ञान - चक्षु मोह - मुह्यमान के भी
चितवन आपकी अगद सुख - सारी है।

२६२—नीलिमा - समेत दृश्यमान हैं तथापि यह
शंभु - चित्त - मध्य रम्य राग[4] उपजाती है।
धारण किये है लोल लीला अमिताभ किन्तु
शक्ति - युक्त भक्ति - भाव सुदृढ़ बनाती है।
परम प्रशंसनीय वक्रता से युक्त तो भी
नमित जनों में समता का भाव लाती है।
चारु चितवन मार - मद - हरणी है पर
विरत जनों में मोद रति[5] का बढ़ाती है।

१-आयत। २-भस्म हुआ। ३-एक रस। ४-लाल रंग या प्रेम।
५-प्रेम या कामदेव की स्त्री।

२६३—अंब ! तेरे चंचल दृगंचल की मेखला की
लीला है ललाम सुख - धाम महा मायिनी।
श्वेत - गिरि - शिखर - उपस्थित - महेश - चित्त
यंत्रित[1] अजस्र रचती है काम - कायिनी।
किन्तु एक इसमें अनूपम विशेषता है
ए री, सुजनों को मुक्ति - पदवी - प्रदायिनी।
टूक - टूक होते विश्व - बंधन, न ऐसी अन्य
देखी स्वर्ग - जन्य वस्तु विभव - विधायिनी।

२६४—कुंचित भ्रुवों के सम विलस रहा है जो कि
अंचित शरासन - समान सुख दाता है।
विश्व के अमित्र[2] जिसे देख कर होते मुग्ध
जिससे विदेहों का निकटतम नाता है।
कलुष विभीषण सुहृद सम होते द्रुत
देख महावीर भी विनत बन जाता है।
अंब ! तेरा करुण - कटाक्ष अभिराम राम
भूरि - भूरि भाँति भीति भव की भगाता है।

२६५—द्वादश दिवाकर - प्रताप से प्रबल ताप
दृग से तृतीय, अहो ! शंभु ने प्रचारी है।
सूख गयी द्रुत काम - भूमि जगती तल की
नीर - हीन हो गयी नितान्त सृष्टि सारी है।
अहह ! उसी में रस - बीज उपजाती हुयी
प्रेम - अंबु - धारा गिरी ईति - भीति - हारी है।
दृष्टि - पात आपका हुआ है इस हेतु मानों
वृष्टि - पात आपका[3] महान सुख - कारी है।

१-अपने वश। २-राक्षस या विश्वामित्र। ३- जल का।

२६६—अंब ! अधिकारी यह अतुलित मान की है,
अति अपकारी शैल[1] - सिंधु - अभिमान की।
पार करने में जो कठिन उस संसृति के
विन्ध्य गिरि को भी अति तुच्छता प्रदान की।
और, शंभु - धैर्य्य के अनूप महासागर को
इच्छा रखती है चुलकी[2] में द्रुत पान की।
तेरी चितवन एक सुषमा प्रसारती न
धारती है उपमा अगस्त्य भगवान की।

२६७—प्राप्त करती है भवदीय पक्ष - पात द्वारा
वीक्षण - विलास - कला नवला सुजन को।
और मिल जाती उसे मुक्ति की वधूटी नव्य
युग - पद[3] दोनों करती हैं मुग्ध मन को।
उस सुकृती से रति - भाव मानती हैं दोनों
ऐसा, जो न होता कभी प्राप्त अन्य जन को।
मानों वहु व्याह की प्रथा को प्रचलित कर
चितवन आपकी लुभाती त्रिभुवन को।

२६८—साधु - सुजनों के हृदयों के क्षेत्र - मध्य जो कि
कर्म - धर्म - बीज के प्ररोह[4] प्रकटाती है।
जो कि एक - मात्र सुधियों के उपभोग - योग्य
ऐसी शस्य, पाकर सलिल, लहराती है।
मंगल - मयी अनूप सूक्ति - लहरी की धान्य,
जो कि नव्य - जीवन - जनित, सरसाती है।
अंब ! वह आपकी सुचारु चितवन आज
सावन - घटा - सी रस - प्लावन बनाती है।

१-विन्ध्य। २-छोटा चुल्लू। ३-एक-साथ। ४-अंकुर।

२९९—चंचल स्वभाव से दृगंचल तुम्हारे यह
आश्रय अमृत - विष - मद के महान हैं।
कालिमा से जनित प्रतीत हो रहे हैं यह
और अविराम श्रुति[1] - पथ - धावमान हैं।
जाने किस हेतु कह देते कवि -'कोविद यों,
'यह सुजनों को मुक्ति करते प्रदान हैं'।
करुणा - कटाक्ष भवदीय अमिताभ, अंब!
अचरज - खान हैं, अमित - गति[2] - वान हैं।

३००—आठों याम शिशिर सुधा के अवगाहन से
शीतल हुयी जो छबि विशद विधान की।
हो रही प्रकट अमिताभ रुचि श्वेतिमा की
मित्रता प्रतीत करती जो अंशुमान की।
मधुर स्वभाव से अनंग - हित - कारिणी है
संश्रितवती है एक - गति मतिमान की।
अंब! तेरी चारु चितवन की अकथ्य कथा
मूर्ति - सी लसी है अष्ट[3] मूर्ति भगवान की।

३०१—अहह! अनूप अमिताभ देह शंकर की
परम मनोज्ञ श्वेत भूति से विशाला है।
कंटकित[4] होती जब आपके विलास - द्वारा
लसती मनोहर, यद्यपि विकराला है।
भासती कलित मुकुलित - कंज - कानन - सी
अथवा कदंब - कुसुमों की सौम्य शाला है।
लेती रस आपकी सुचारु चितवन तब
मानों मधु - लोलुप ललाम भृंग - माला है।

१-कान या वेद। २-शक्ति, पहुंच। ३-शंकर। ४-जिसके रोंये खड़े हो गये हों।

३०२—नीलिम वितान जाल सदृश महान रम्य
केश - छबि पटलोपमा को अनुकरती।
कानों में लसित कुण्डलों की अमिताभ रुचि
दीप - मालिका की अति दिव्य द्युति धरती।
शोभित कटाक्ष की प्रभा है रंग - मंच - तुल्य
जो कि रस - भावना त्रिलोक में वितरती।
अंब ! यह आपकी अनूप चितवन चारु
बार - वनिता[1] - सी बार - बार नृत्य करती !

३०३—बोध[2] - कमलाकर में होकर निविष्ट जड़
जीवन[3] को भूरि - भूरि स - मल रचाता है।
भ्रमण सदैव करता है मनोकानन में
शाखा अभिलाषा की मरोड़ तोड़ ढाता है।
ऐसा मद - कल[4] मत्त करता महावत भी
संयम - अलान[5] को त्रुटित कर जाता है।
अंब ! अवलोकन तुम्हारा तीव्र अंकुश - सा
मेरे काम - कुंजर को कुण्ठित बनाता है।

३०४—स्नेह से समादृत निकल पड़ती है यह
होते हैं विजित सब प्राणी त्रिभुवन के।
विदलित विधु की गलित छबि होती द्रुत
होते जीव - धारी मुग्ध पुर के विजन के।
मान में समुद्यत महेश - जेतु - काम[6] उग्र
करती स - हास है विलास भी व्यसन के।
अंब ! तेरी चारु चितवन की चमक है कि
दमक रही है द्युति बाण की मदन के।

१-वेश्या। २-ज्ञान। ३-जीवन अथवा जल। ४-मस्त हाथी। ५-शृंखला। ६-शंकर को जीतने की इच्छा वाली।

३०५—सरणी[1] यही है मुनियों की एक - मात्र, अंब !
श्रुति[2] - पथ - गामी मोद - मंगल सजाती है।
ज्ञान - ध्यान - आगम प्रकट बतलाती सदा
सत्य ही सुहृद बन सुख उपजाती है।
क्यों फिर कुटिलता समायी इसमें है, अहो
अस्थिर स्वभाव किस भाँति प्रकटाती है।
तेरी चितवन साधु होकर असाधु कैसे
शोभा सरसीरुह की त्वरित चुराती है।

३०६—अंबिके ! तुम्हारी लोल - लोचन - ललाम - छवि
श्यामा[3] के समान अतुलित छवि वाली है।
मंजु द्युति तारों की प्रकट हो रही है जहाँ
कंदलित मेदुरित शोभा सौख्य - शाली है।
मंद - मंद हसित - प्रभा है चंद्रिका - सी चारु
डाल रही भूमि पर मोहिनी निराली है।
तो फिर वृथा क्यों करती है होड़ पंकज से
अथवा चकोर - अहमिति[4] ही चुराली है।

३०७—अंब ! मुझे करदे स - नाथ अवलोकन से
अपनी अनूप अति चारु चितवन से।
अति सुखकारी मोद - संयुत विलोकने से
उस दृष्टि ही से अपरोक्ष जो सुजन से।
मोह - अंधकार के लिए जो प्रलयंकर है
ऐसे अमिताभ निज नेत्र के तपन[5] से।
श्रेय करने में जो निरत उस देखने से
प्रेय करने में परिचारित नयन से।

१-सीढ़ी। २-वेद अथवा कान। ३-रात्रि। ४-अभिमान। ५-सूर्य्य।

३०८—देवापगा - सदृश महेश - प्रेम - धारा - मध्य
स्नान कर सुन्दर सुरुचि सन बैठी है।
अति अवदात अनुपम अभिराम छबि
आशुतोष - भूति तोष - जाल छन बैठी है।
कुण्डल - विमंडित ललाम - रत्न - ज्योति - युक्त
होकर जटाल[1], कर मुग्ध मन बैठी है।
चितवन चारु चंद्रचूड - छबि देख - देख
मानों स्वयमेव चंद्रचूड बन बैठी है।

३०९—जो कि अभिमत - फल - दायक सदा ही, उन
लोचनों से अमर परम पद पाते हैं।
होता द्रुत कंदलित[2] विभ्रम महेश का भी
ऐसी करुणा की रस - धार बरसाते हैं।
डोरे तोड़ देते भव - बंधन अधीन के भी
पलक विलोक साधु अलख जगाते हैं।
शंभु सर्व - तन्त्र - निज - तन्त्र दृष्टि - मंत्र द्वारा
भूल स्वीय यंत्र परतन्त्र बन जाते हैं।

३१०—जीत कर तीनों लोक होकर अशोक काम
स - मुद स्वकीय अभिषेक साजने लगा।
श्रवण - विलम्बित जवाहर की ज्योति देख
दीपक - समूह अप्रतिभ लाजने लगा।
लोल बन अलक - समूह सुषमा से युक्त
तोरण - समान अमिताभ भ्राजने लगा।
अंब ! तेरी चालित - सुचारु - चितवन - व्याज
चलित - सरोज - तुल्य केतु[3] राजने लगा।

१-जटा-युक्त । २-विकचित । ३-झंडा ।

३११—लसती महान मदनातुर, इसी से यह
मानों बाट जोहती स - तर्क प्राण - धन की।
अंधकार - पूर्ण कच - कांति - रजनी में चलो
मंद - मंद चाल हारिणी जो शंभु - मन की।
श्याम - परिधान पलकों का किये अंग - अंग
पदवी[1] जटिल नील अंजन स - घन की।
अंब ! तेरी चारु चितवन अभिसारिका - सी
खोजती सहेट - भूमि शंकर - मिलन की।

३१२—माणिक के कुण्डलों को सुरुचि कषाय रंग
रुचिकर जिसको निरन्तर महान है।
जिसकी पहुँच है अनूप श्रुति - सीमा तक
ममता - विरोध करने में यतमान है।
धूम की शिखा-सी वल्लरी है श्याम भ्रू की लसी
पलक जटा - सी जिसमें कि छविवान है।
अंब ! अवलोकन तुम्हारा अमिताभ वही
विजित - रतीश्वर[2] यतीश्वर[3] - समान है।

३१३—श्वेत मंद हास से, अलक्त मणि - कुण्डल से
आपकी अपांग - आभा रम्य रंग-शाला - सी।
दिन - मणि शोभा से सुरंग सांध्य - डंबर[4] से
रंजित दिनान्त छटा अति छबि-जाता - सी।
गंग - गरिमा से सुमनोहर सरस्वती से
शोभित कलिन्द-गिरि-कन्यका विशाला - सी।
मल्लिका - कुसुम से तथैव नव - पल्लवों से
नील अरविन्द से रचित मंजु माला - सी।

१-गली। २-जिसने काम को जीता है। ३-योगी। ४-मेघ।

३१४—कह दें इसे जो घनघोर घटा सावन की
नीर की फुहार देखने में नहीं आती है।
मान लें इसे जो भृंग - मंडली अनूप तो भी
यह कंज को न कभी उर से लगाती है।
अथवा कलिन्द - कन्यका की समता दें इसे
तो न सुरसरि - अनुषंग[1] में लखाती है।
दृष्टि उठती है दृष्टि - पात के विलोकने को
मति चकराती कहीं उपमा न पाती है।

३१५—अघटन - घटना - पटीयसी कहातीं तुम
अवढ़र - दानी महादेव की चहेती हो।
क्यों नहीं तुम्हारे दृष्टि - पात की प्रकृति फिर
विषम विभाव से विरोध से उपेती[2] हो।
होकर अनूप एक मूल काम अंकुर की
एक ओर मेरी कामना की बेलि सेती हो।
राग - युक्त होकर अपर ओर साधुओं के
चित्त में मनोरम विराग भर देती हो।

३१६—जग - परिताप से महान अनुतापित हो
मानव - समाज जब अति अकुलाता है।
त्राण भी न पाता प्राण - हारी अघ - आतप से
अंब ! तव - शरण - विवश बन जाता है।
तेरा अवलोकन सु - चारु चंद्रिका - सा उसे
श्वेत घनसार - पंक - सदृश लखाता है।
स्वाँति हिम - वारि - सा बरस पड़ता है और
मुक्त - गण - युक्त[3] भोग-मुक्त[4] को बनाता है।

१-साथ। २-युक्त। ३-मुक्ति पाये हुये जनों के समान। ४-भोगों से मुक्त।

३१७—अंब ! बद्ध - अंजलि प्रणाम करता है दास
तेरे चारु चंचल दृगंचल - विधान को।
सुर - मुनि - साधक - समाज - मुक्ति - अंकुर को
तीनों जगतीतल के मंगल - निधान को।
अ-जल अ-नाल श्वेत - श्याम - रक्त अंबुज को
विभ्रम से घूमते मराल - अभिमान को।
दग्ध कामदेव के समुद्भव[1] के साधन को
खिन्न रति - चित्त के प्रसाधन[2] महान को।

३१८—जो कि अमरामर - निविष्ट[3] मकरध्वज का
विभ्रम अवश्य ही विनष्ट कर देता है।
जो कि विदलित सरसीरुह की चातुरी का
प्रथित प्रशंसनीय भाव हर देता है।
और, जो कि विश्व - अंधकार के विनाशने को
दीपक - समान तेज - पुंज धर देता है।
मृग - मद - हारी अवलोकन तुम्हारा वही
मुझमें प्रकाशित प्रभाव भर देता है।

३१९—मुक्ति - मणि खोजने को रोहण[4]-अचल - तुल्य
अधिक समुन्नत जो, अति ही ललाम है।
करुणा - कदंबवती सुषमा - सरस्वती में
मज्जन किये जो सभी भाँति अभिराम है।
सृष्टि - प्रलयंकर को प्रलय - भयंकर को
शंकर को किंकर बनाती जो मुदाम[5] है।
दृष्टि को प्रणाम, दृष्टि - पात को प्रणाम उस
दृष्टि - पात - विभ्रम को बहुधा प्रणाम है।

१-पुनः उत्पन्न होने के। २-पुनः अखिन्न होने के। ३-देवता तथा दानवों के शरीरों में छिपा हुआ। ४-चढ़ाई वाले। ५-सर्वदा।

३२०—चंचल चपल अमिताभ श्यामता से युक्त
अंजन अकृत्रिम विरंचि ने बनाया है।
या कि पीतिमा से हीन, झंकृति[1]-विहीन किसी
मंजुल मिलिन्द - मंडली की यह छाया है।
अथवा हुताशन - असंग रिक्त - ताप, अंब !
श्याम धूम - पटल विलोकने में आया है।
नेत्र - रुचि - नीलिमा तुम्हारी अभिराम अति
देती वशीभूत कर मंत्र है कि माया है।

३२१—अंब ! अवलोकन तुम्हारा महा सुन्दर है
परम मनोरम है, कान्ति का निलय है।
अति सुखदायक अमर - मंडली को सदा
प्रथित प्रभाव - भरा मंजु अतिशय है।
कल्प - वृक्ष - सदृश प्रदाता सुख - संपति का
प्रणत - जनों को सब काल ही सदय है।
मद-मधु-धाता नील-कंज-श्याम-शुंडी यह
मोह - मधु - पाता[2] पश्यतोहर[3] अभय है।

३२२—बहु - छवि - वान नील - अलक - समूह - मिष
मधुकर - अवलि मनोहर लखाती है।
नाना-रत्न-रुचि व्याज अति अवदात, अंब !
मृदुल मृणाल - द्युति सुख - सरसाती है।
सुर - नर - मुनि - अभिलषित - कृपा के रूप
मंजु मकरन्द - राशि मानस लुभाती है।
इस सरसीरुह - समान अवलोकन में
रजनी प्रकाश[4] की कहाँ से गंध आती है।

१-झंकार। शब्द। २-पीने वाला। ३-भ्रमर। ४-एक पुष्प जो रात्रि में खिलता है।

३२३—जो कि असि - धारा के समान है निशित पथ
सूक्ष्म इतना कि उपमा न दृष्टि आती है।
अगम महान ज्ञान - गम्य जो कठिनता से
गुरु की कृपा ही जहाँ संबल[१] है, थाती है।
उस अपवर्ग की अनूप पदवी[२] में जब
मेरी मति - गति अति शंकित हो जाती है।
अंब! तब आपके सदय अवलोकन की
यष्टि[३] के सहारे अनपाय[४] पार पाती है।

३२४—मीन से, कुरंग से, कुशेशय से, खंजन से,
लोचन तुम्हारे श्वेत - श्याम - रतनार हैं।
तो भी इनकी है रुचि नीलिम महान, अंब!
स्थिरता न पाते मम विविध विचार हैं।
मान लें इसे जो कुसुमायुध - हुताशन के
धूम की शिखा तो तर्क उठते अपार हैं।
क्योंकर त्रिलोचन की लोचन - त्रयी में, अहो!
अनुदिन[५] होते मोद - मंगल - प्रसार हैं।

३२५—अंब! अवलोकन तुम्हारा नील - रत्न - वृक्ष
दृढ़ इतना कि दृढ़ता ने यश पाया है।
मेरा मन कुंजर - समान है निबद्ध जहाँ
यद्यपि तुम्हारी करुणा की वहाँ छाया है।
भक्ति की सुदृढ़ निगड़ों से परिवारित[६] हो
उसने तथापि अपने को यों छुड़ाया है।
स्तंभ रहा सुस्थिर, निबन्ध[७] रहा नद्ध तो भी
छूट कर भागा अचरज है कि माया है।

१-पाथेय। २-मार्ग। ३-लाठी। ४-निर्विघ्न। ५-प्रतिदिन। आये दिन।
६-बँधा हुआ। ७-रस्सी।

३२६—मंद - मंद हसित तुम्हारे कंज - आनन का
फेन के समान जहाँ रुचि दरसाता है।
और सरसीरुह - सुमान उसी आनन की
छबि का समूह वारि - राशि - साल खाता है।
ऐसे सुषमा के सीमा - हीन पारावार[1] - मध्य
आपका अपांग सेतु - सम दिखलाता है।
जिसके सहारे त्रिपुरारि - लोचनों की छटा
छहर रही है दृश्य अति सुख - दाता है।

३२७—अंब ! तेरे कलित कटाक्ष की कथा का चित्र
खींच कर कौन चित्रकार यश पाता है।
देखकर विपुल विरोध इन लोचनों का
थकित त्रिविक्रम[2] हैं, चकित विधाता है।
प्रेम - अंबु - राशि में सतत करते हैं स्नान
तो भी इनमें न किसी भाँति शैत्य आता है।
मार - रिपु[3] - मन में महान मीन - केतन[4] का
ईंधन - समान चित्र - भानु[5] जल जाता है।

३२८—विपुल विवर्ण कर्ण - पूर - रत्न - शोभा - सम
रक्त - पीत दाड़िम की खण्ड - राशि भ्राजी है।
और, अति सुभग कटाक्ष - सुषमा के तुल्य
नील - मणि - पंजर[6] की शोभा मंजु राजी है।
अलक - पलक - व्याज अतुलित आभा - भरी
मेचक - शलाका - मयी भित्ति साज - साजी है।
मानों महा नीलिम महेन्द्र शैल - शृंग पर
शुक - सुन्दरी - सी कृपा आपकी विराजी है।

१-समुद्र। २-विष्णु। ३-शंकर। ४-कामदेव। ५-अग्नि। ६-पिंजड़ा।

३२९—शीतल महान जगती - तल - प्रसन्न - कर
सुलभ अमर - मंडली को सुख - धाम है।
अशुभ - निवारक विनीत मनुजों के लिए
कर्म - विष - नाशने में सजग मुदाम है।
अपलक[1] आपका विलोकन अनूप, अंब!
अमरों को अमृत - समान अभिराम है।
खेद इतना है कि अदृश्य वह, दृश्य यह,
भेद इतना है कि वह श्वेत, यह श्याम है।

३३०—तेरी चितवन का चरित्र है चकित - कर
एक - मात्र धेय साधु - सुहृद - समाज का।
त्रिविध त्रिदेव - अभिनंदित अखण्ड छबि
करती विशेष परितोष नटराज का।
दृष्टि - बिम्ब मृग-सा मृगांक[2] - मध्य राजता है
आनँद बढ़ाता भूत - वृन्द - सिरताज का।
और, वही मीन - सा लखाता गंग - नीर - मध्य
करता अमान कंज - खंजन - समाज का।

३३१—तेरी अमिताभ चितवन से पराजित हो
नील - कंज जान पड़ता न खिलता हुआ।
होकर निरवशेष - विगताभिमान वह
देखा गया आभरण - मध्य पिलता हुआ।
आकर समीप तब श्रवणावतंस[3] - व्याज
पाया गया श्रुति से स - प्रेम मिलता हुआ।
माँग रहा वर तव दृष्टि वरदायिनी से
हो रहा अभीत भय - भीत हिलता हुआ।

१-पलक-हीन, एक-टक। २-चन्द्रमा। ३-कान का भूषण।

३३२—संध्या के समान श्वेत - श्याम - रक्त तेरे दृग
होते जब प्रस्तुत हिमाद्रि के अँगन में।
बनते उपासक अमर बद्ध - अंजली हो
जागृति विराजती है योगियों के मन में।
पूर्व - गिरि - सदृश सुकवि - हृदयों के शृंग
होने लगते हैं प्रतिभासित गगन में।
ज्ञान का सुधाधर सुधा ले उठता है तब
शकल - विहीन[1] दोष - हीन त्रिभुवन में।

३३३—अंब! यह आपके कटाक्ष का महाम्बुवाह
करुणा - प्रवाह बरसाता भूमि - तल में।
असुलभ - सुलभ सरस्वती सुकवियों की
तोड़ कर बाँध बहती है एक पल में।
नारे बनते हैं नदी नद बन जातीं द्रुत
नद हृद छोड़ जाते उदधि अ - तल में।
किन्तु यमुना - जल - तरंग - भंगिमा को वह
तुच्छ करता है किस छद्म[2], किस छल में।

३३४—काम - रिपु - कामिनि! कटाक्ष कमनीय तेरा
करुणा - प्रवाह से हमारा मन भर दे।
ईषत[3] हसित से समादृत सदैव यह
इसके प्रभाव का प्रसार तू बितर दे।
यह अधिकाधिक विलास से बलित, इसे
देकर अनंग को अभंग पंच शर दे।
शीतल उषीर से, महान शीत चंदन से,
इससे महेश्वरि! अतन्द्र मुझे कर दे।

१-पूर्ण। २-छल। ३-किंचित।

३३५—अंब ! रसराज का अनादि आदि - स्रोत यह
विपुल विलास का प्रसार उपजाती है।
होकर स - लज्ज मंजु आभा से सुसज्जित हो
मज्जित हो अंजन में छवि छटकाती है।
या तो नथ - मोती की समुज्ज्वल प्रभा से युक्त
या कि मंद हास से प्रणय प्रकटाती है।
अतिशय आपकी सुचारु चितवन, अंब !
सज सब साज नटराज[1] को लुभाती है।

३३६—आपके अनूप अमिताभ अवलोकन की
आभा अतिशय असिताब्ज - मद - हारिणी।
वीर - रस - वलित[2] प्रभाव उपजाती जब
होती पंचशर - शर - साहस - निवारिणी।
बाण - वर्ष[3] - लहरी तथापि चलती है जब
अति बलवान शंभु - हृदय - विदारिणी।
होता शत - खण्ड चंड - चित्त - प्रमथाधिप का
काम - कीर्ति फैलती त्रिलोक - रति - कारिणी।

३३७—अंब ! यह आपका स - विभ्रम विलोकना ही
जागृति - प्रदाता दिवसोदय - समान है।
हृदय - सरोज विकसित करने के लिए
प्रकटित होता अतिशय छविवान है।
दोषाकर - भाग्य[4] अस्त होता सदा सेवकों का
जड़ता विनाशने में कुशल महान है।
चित्त - चक्रवाक चक्रवाकी - चेतना से मिल
करता जनित अपवर्ग - दिन मान है।

१-शिव। २-युक्त। ३-वर्षा। ४-रात्रि रूपी भाग्य अथवा स-दोष भाग्य।

३३८—मोह-कंद-द्वारा जन्म जिसका हुआ है, अंब !
जो कि क्रूर - कलुष - कलाप - रस - वान है।
पल्लवित पाप के पवन ने किया है जिसे
फैला दीर्घ जिसके प्रभाव का प्रतान है।
भव - भय - कारी विष - पादप[1] महान मेरा
वासना - विहंग का जो संश्रय अमान है।
आपके कटाक्ष का अकुण्ठित कुठार, उसे
करता अमोघ छिन्न भिन्नता - प्रदान है।

३३९—एक बार तेरे एक क्षण के विलोकने से
विनत वराक[2] विश्व - पूज्य बन जाते हैं।
तेजवान होकर मही में यश पाते सदा
बुद्धिमान होकर सभा में कीर्ति छाते हैं।
वाणी रस - धारा - सी प्रवाहित हो आनन से
उनको बनाती विज्ञ, सभ्य सुख पाते हैं।
अष्ट सिद्धि आती, नव निधि की संघाती[3], अंब !
उनको सुनाती सो कथा जो सुर गाते हैं।

३४०—मंद मंद लसता तरल अक्ष - राग जहाँ
मंद मंद प्रगति प्रसन्नता नयी की है।
मंद मंद होता है पलक - पात मोद - युक्त
मंद मंद सुषमा विलोचन - द्वयी की है।
मंद मंद दोला चारु चलता विलास का है
मंद मंद नोक - झोंक रति - विषयी[4] की है।
मंद मंद झूलते त्रिलोचन के लोचन की
मंद मंद मुग्धता अनंग - विजयी[5] की है।

१-वृक्ष। २-बेचारे। ३-सगिनी। ४-कामदेव। ५-महादेव।

३४१—विपुल समायत[1] सतत सुखकारी महा
शंकर शरीर राज-भवन सँवारा है।
जिसमें विहार-सरसी है जाह्नवी की दिव्य
सलिल प्रवाह करुणा की स्वच्छ धारा है।
इन्द्र अनुजीवी[2], यम चेटक, कुबेर दास,
सेवक सुरासुर-समाज, अंब! सारा है।
नृप बनने को एक मात्र अवलोकन है,
राज्य करने को सब जगत तुम्हारा है।

३४२—जिस पर होती, अंब! आपकी कृपा की कोर
शारदा उसी का साहचर्य्य[3] अपनाती है।
और, इन्दिरा भी उसका ही मुख देखती है,
लाड़ भी उसी का निशि-दिवस लड़ाती है।
वसुधा समस्त एक विशद कुटुम्ब बन
स्नेह करती है, प्रेम-भाव प्रकटाती है।
अखिल-भुवन-नयनामृत-स्वरूप उसे
रूप प्राप्त होता, सुर-जाति गीत गाती है।

३४३—यह अवलोकन अनुग्रह-स्वरूप सिंह
प्रबल पराक्रम प्रकट करता हुआ।
निकल पड़ा है त्याग सत्वर कटाक्ष-कुंज
केसर-कलाप-मिष कान्ति धरता हुआ।
भागा मद-महिष, पलायमान मोह-मृग,
देख दूर दौड़ा सारमेय[4] डरता हुआ।
देखा गया अहह! परन्तु वृषभासन[5] के
वाहन[6] की भीति स-प्रतीति हरता हुआ।

१-विस्तार पूर्ण। २-दास। ३-साथ। ४-कुत्ता। ५ शंकर। ६-बैल।

३४४—अंब ! अवलोकन तुम्हारा अमिताभ यह
दक्ष गुरु सदृश कुशल दिखलाता है।
कान तक दौड़ता निरन्तर प्रतीति - युक्त
श्रुति - साहचर्य्य - पाठ स - मुद पढ़ाता है।
नील अरविन्द तेरे कर्ण में लगा है जो कि
उसको स्वकीय शिष्य जान अपनाता है।
देता उपदेश चित्त सुस्थिर बनाता, और
कीट - भृंग[1] - तुल्य श्याम रंग में समाता है।

३४५—श्याम है पलक श्याम पुत्तली तुम्हारी, अंब !
श्याम - भ्रू - अलंकृत नयन दिखलाता है।
जिसका अनूप अवलोकन महान रम्य
अति अमिताभ चन्द्र - मौलि - सुख - दाता है।
अंजन में इसमें महान समता है, किन्तु
कान्ति को विहाय, भेद अधिक लखाता है।
एक तो द्वि - नेत्र[2] - मन करता विमुग्ध, अहो !
दूसरा त्रिनेत्र[3] - चित्त मुदित बनाता है।

३४६—फल देख लेने का, प्रभाव अवलोकने का
करके कथन कौन कवि पार पाता है।
चारुता अलौकिक तुम्हारी चितवन की है
अमर[4] - समूह को महान सुख - दाता है।
जिसकी अनूप एक झलक विलोक कर
होकर विनीत सिर सेवक झुकाता है।
मिलती उसे है कीर्ति—मालिका स्वयंबर की
मुक्ति को महेश्वरि ! विवाहित बनाता है।

१-कीट भृंगी न्याय से। २-दो नेत्र वालों का। ३-शंकर। ४-देवता।

३४७—सावन की सघन घटा के बादलों में, अंब !
आपके विलोकने में तुल्य - योगिता सी है।
रूप - रंग - गुण में उभय सब भाँति एक
ताप हरने में क्षमता, भी समता की है।
दोनों करते हैं अवमानित[1] कुशेशय को
दोनों को सलिल - पात ने ही एकता दी है।
किन्तु एक प्रीति करता है चंचला से, और
दूसरे ने चंचल प्रणाली अपना ली है।

३४८—अंब ! तेरा करुण कटाक्ष श्याम रंग का है
अंजन - समेत सदा चंचल लखाता है।
तीनों अवगुण तीनों वृत्त[2] हैं उपेक्षणीय
दुष्टों को त्रिदोष यह यम - सा दिखाता है।
किन्तु साधु - जन के लिए है मुक्ति-दायी सदा
सज्जन में धवल चरित्र उपजाता है।
सन्त को निरंजन - स्वरूप करता है दान
संतत सुहृद - हृद अचल बनाता है।

३४९—मंद - मंद हसित अमंद सुख - कारी यह
मोहता प्रसून गुच्छ - तुल्य साधु - मन है।
और कुण्डलों की हरी - लाल मणियों की प्रभा
पल्लव - समान मन - मोहन सघन है।
चारों ओर शैत्य का प्रसार करता है नित्य
प्रकट - प्रताप लोक - ताप का कदन[3] है।
अंब ! यह आपका स - प्रेम अवलोकना ही
करुणा - कुरंगी का अनूप उपवन है।

१-अपमान-युक्त। २-भाव। चरित्र। ३-काटने वाला।

३५०—आज राजगद्दी रतिराज - राज राज की है
आभा अंब - अंबक[1] - विमोहक है हाला - सी।
इन्द्रनील - रुचि से रचित महिपासन है
शीस - फूल - छत्र - छबि सोहती विशाला - सी।
वेदिका विलोचनों की विलस रही है यथा
भूमिका रची हो अभिषेक - रंग - शाला - सी।
आरती उतारती विपणि[2] - मणि - कुण्डलों की
तरल - तरंगित समीप दीप - माली - सी।

३५१—वारिज - सा आनन विलोचन हैं मीन - सम
कंबु - कंठ देख - देख पाती रति - पीड़ा - सी।
कोक - मिथुनाकृति उरोज की विलोक रम्य
नाभि-भौंर लसती निहित - नीर - नीड़ा[3] - सी।
शंभु - कंठ - छाया शिति पड़ती सिवार-सी है
उठती मनोज की तरंग प्रेम - व्रीड़ा[4] - सी।
अंब ! अभिराम सुषमा की सरिता में रची
चितवन - चारुता ने आज जल - क्रीड़ा - सी।

३५२—अधर - प्रभा के जहाँ पटल विराजमान
विद्रुम - समान रक्त छबि कटाते हैं।
भ्रू की मंजु वल्लरी तरंग - सी चलायमान
कंबु - सम कंठ नेत्र मीन - से लखाते हैं।
ऐसे मुख - कान्ति के अनूपम पयोधि - मध्य
नाना प्रतिबिम्ब दृष्टि - पात से दिखाते हैं।
मानों अभिराम श्याम धूम - योनि[5] अंबुद के
प्रसर प्रशस्त वारि - राशि उपजाते हैं।

१-आंख। २-बाजार (समूह)। ३-घोंसला। ४-लज्जा। ५-धुएं से उत्पन्न।

३५३—अंब ! तेरी चारु चितवन है अनूप अति
अपर प्रभा न तुल्यता का यश पाती है।
इन्दीवर - मेचक मधुप छवि श्याम देख
मूढ़ कवियों की कल्पना में इति आती है।
क्योंकि दृष्टि शीतल स्वभाव के प्रभाव द्वारा
इन्दु - अंशु - आभा को विनिन्दित बनाती है।
और, अमिताभ इन्दिरालय[1] सरोज से भी
द्वेष करती है अतिरेक[2] प्रकटाती है।

३५४—अंब ! चितवन अमिताभ यह आपकी है
सुर - मंडली में कीर्ति जिसकी महान है।
इसकी सु - रुचि तरलित हो रही है क्योंकि
शीतल - कृपा - रस - सरस द्युतिमान है।
सूर्य्य - अंशु - सदृश धरा को करती है दीप्त
चन्द्र की मरीचि के समान शैत्यवान है।
तो भी गो[3] - समूह - से वरद वृषभासन के
अभिलष्यमाण[4] दूब - दल के समान है।

३५५—देवि ! यह आपका विलोकना विचित्र ही है
इसके प्रभाव का न कोई पार पाता है।
शारदा के परम प्रसाद से अनूप कवि
मति - अनुसार कुछ - कुछ यश गाता है।
आपका कटाक्ष अंधकार के प्ररोह सम
बाल - चन्द्र - भाल[5] - दृग मोहित बनाता है।
वह ही निमीलित[6] - नयन मुनि - मंडली के
मानस - भवन में प्रकाश प्रकटाता है।

१-लक्ष्मी का निवास-स्थान। २-अलगाव। ३-गाय अथवा किरण।
४-चाहा हुआ। ५-शंकर। ६-बन्द हुये।

३५६—यह भवदीय वदनारविन्द - आभा, अंब !
रम्य, अमिताभ, दिव्य, सुन्दर, सुघर है।
विभ्रम विभा से युक्त चंचल निरीक्षण का
सुख मुख - सुषमावलंबी मनोहर है।
धैर्य्य नष्ट करके किशोर - चन्द्र - शेखर का
चित्त में बढ़ाता राग - बन्ध[1] का प्रसर है।
किन्तु मुनि - मानस को धैर्य्य का निधान कर
राग - बंध नाशता विचित्र जादूगर है।

३५७—देवि ! कथा आपकी विचित्र चितवन की है
इसका चरित्र तीन लोक से भी न्यारा है।
देख - देख चकित - थकित अचरज - मयी
महिला विरंचि की, त्रिविक्रम की दारा है।
बालक - सुधाकर - शिखर प्रथमाधिप[2] का
चित्त जिसने कि विष - पावक सँहारा है।
होता इस भाँति महा शीतल विलोक कर
मानों हिम - खंड चन्द्र - सार से सँवारा है।

३५८—अमित असाध्य भव - रोग मानवों के लिए
जिसकी कठिनता अगम है, अपारा है।
केवल अनूप गुरु - करुणा - कटाक्ष वैद्य
हर सकता है, ऐसा श्रुति ने विचारा है।
उसको विनष्ट करने में एक - मात्र योग्य
आपका अपांग - पात - अगद विधारा[3] है।
जो कि मिलता है किसी एक सुकृति को, देवि !
जो कि प्रणतों का अवलम्ब है, सहारा है।

१-विषय-वासना। २-शंकर। ३-एक औषधि।

३५६—जो जन सुजन हैं, स्वभाव - सिद्ध सात्विक हैं
गुरु करुणा की छत्र - छाया शीस धरते।
नाना भाँति नाना तप - संयम - नियम - द्वारा
घोर भव - पाश निज, छिन्न भिन्न करते।
अंत में अनूप प्राप्त करते तुम्हारी कृपा
सारी कर्म - वासना अपांग ही से हरते।
इस जगती की शरदम्बु[1] सरसी में वही
परम प्रसन्न राज हंस से विचरते।

३६०—अंब ! तेरा करुण कटाक्ष अभिराम अति
जिसमें विमुग्ध मंद - हास है भरा हुआ।
व्रीड़ा - अनुराग सह - चारी[2] जिसके हैं, देवि !
और जहाँ लसता विभास[3] बिखरा हुआ।
पड़ता नहीं जो वह रति - पति - क्षार पर
जीता किस भाँति रुद्र - रोष से मरा हुआ।
अहह ! मही पै एक छत्र करने को राज्य
मार उठ बैठा, क्षार - संचय हरा हुआ।

३६१—अंब ! यह आपका अनूप अवलोकन ही
राज - अधिराज महाराज के समान है।
विभ्रम - विलास सैन्य - बल के समेत चला
मानों महा विजयी नृपाल युयुधान[4] है।
भ्रू के युग चापों पै चढ़ाकर पलक - शर
जीत रहा केवल न सकल जहान है।
अपितु किया है अधिकार उग्र[5] - अंग पर
ऐसा रंगवान, रूपवान, बलवान है।

१-शरद-ऋतु के शीतल जल वाली। २-साथी। ३-प्रकाश। ४-युद्ध करने वाला। ५-शंकर

३६५—रम्य अति रुचिर सुचारु दृष्टि - पात तेरा
सुन्दर, सु - देश[1] है, सुहावन, सुघर है।
विपुल विलक्षण विशद वारि - जात - सम
कोमल, मृदुल, सुकुमार, मनोहर है।
दिवस - समान शंभु - प्रेम के समागम को
नित्य विकचित करने में रुचि - धर है।
रजनि - समान रुद्र - लाज के समुच्चय को
नित्य मुकुलित करने में भी निडर है।

३६६—तेरी लोल - लीला से तरंगित कटाक्ष - रुचि
सेवक जनों की एक गति अनपायिनी[2]।
अधिक अधीन दीन रसना - विहीन को भी
चारु चतुरानन की पदवी प्रदायिनी।
परम कुरूप अंग - भंग में अपंग में है
संतत अनंग - अंग - सुषमा - निधायिनी।
अमित अनादृत दरिद्रता - दलित नर
होता सुर - राज, धन्य धन्य महामायिनी!

३६७—देती जो सदैव अभिलषित फलों का दान
और स्वर्ग - धाम में अजस्र छबि छाती है।
अमृत - समान अवदोह[3] प्रशातों के लिए
देकर कलित कामधेनु - पद पाती है।
दृष्टि - गति तेरी वह, चितवन तेरी वह
किन्तु कला अपनी विचक्षण दिखाती है।
क्यों फिर विमुक्त पाश - बंध से बनाती नर
और उनकी क्यों फिर पशुता छुड़ाती है।

१-रमणीय। २- निर्विघ्न। ३-दुग्ध।

३६८—अपनी कलित कमनीय कान्ति से जो सदा
अंजन की गरिमा विनाश कर देती है।
और, काम्य - कलित विभाव - अनुभाव रख
स - मुद मनोज को निराश कर देती है।
जो कि निज शीतल स्वभाव के प्रभाव द्वारा
काम - क्रोध - कलुष हताश कर देती है।
नरक - निधन[1] वह तेरी चितवन वह
मेरा अंध - तमस प्रकाश कर देती है।

३६९—बैठे रस - निधि[2] पतिदेव शैल - कूल में हैं
बैल को विराम दे, जटाल - मूल धोक दे।
जाती क्यों न सरित - समान उपकूल में तू
कंज - मुख, मीन - दृग और कुच - कोक ले।
काल - कूट - कान्त किये मानस अशान्त अति
हिम से प्रशान्त कर काम - कुन्त रोक ले।
ए री शैल - नंदिनि ! हिमालय तनूजे ! शिवे !
उनको अवश्य आधे नयन विलोक ले।

३७०—गुरु है तुम्हारा अवलोकन प्रबल अति
अगम प्रभाव अमिताभ बीज बोता है।
यदि पड़ता है सेवकों के कंठदेश पर
उनके गले को नील - रंग में डुबोता है।
और, यदि होता प्रतिबिंबित ललाट पर
चंद्रका कलंक लज्जा - जल में डुबोता है।
नयन दिनेश से निशेश से बना के, उन्हें
संतत शिवत्व[3] का प्रदान दिव्य होता है।

१-नरक को भी निहत करने वाली। २-समुद्र। रसों के अधिष्ठाता।
३-महादेव का स्वरूप।

३७१—चारु चितवन चंडि ! अचरज - खानि तव
करुणा - विलास - युक्त जब चल देती है।
अतसि - प्रसून से असित अरविन्द की भी
मेचक[1] मधुरता स - दर्प मल देती है।
दास - कर्म - वारिधि को शुष्क करने में, अंब !
त्वरित अगस्त्य की भी शक्ति दल देती है।
एक बार देख दोनों लोक है बनाती, देवि !
तीनों पाश[2] - बंध तोड़ चारों फल[3] देती है।

३७२—अंब ! तेरी कुटिल कटाक्ष - सुषमा को देख
हीन हर - एक उपमान दिखलाता है।
एक पद पर हो अवस्थित सरोज नित्य
लाज - नीर - मध्य निज आनन छिपाता है।
और, झखमार झख[4] - वृन्द पंक - मध्य घुस
अहह ! अदृश्य बन जीवन बिताता है।
खंजन गगन में पलायमान होता कहीं,
कानन में हरिण न जानें कहाँ जाता है।

३७३—अंब ! अवलोकन तुम्हारा अति उत्तम है
सेवक जनों को नव्य जीवन प्रदाता है।
चंचल है, कोमल, मनोरम है, सुन्दर है,
बालक - समान छबिवान दृष्टि आता है।
भूति से विभूष्यमाण शंकर - उरस्थल के
अजिर[5] में आठो याम खेलता लखाता है।
खेला[6] से चलित चारु हेला[7] से वलित सित
श्रावण - सुसज्जित सरोरुह हिलाता है।

१-नीली। २-काम-क्रोध-लोभ। ३-अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष। ४-मीन।
५-आँगन। ६-खेल। ७ एक हाव।

३७४—विबुध - जनों की अभिराम नव सूक्ति - तटी
हृदय - प्रफुल्ल - कारी आम्र - वाटिका - सी है।
जिसमें अनूप कवि - कोकिल - कलाप[1] - युक्त
रोदसी[2] प्रसन्न गिरा - गम्य - गुरुता - सी है।
परिमल जिसका सु - प्रौढ़ हो रहा है, अंब !
मंजु - माधवी - रस - रसा भी सरसा - सी है।
देवि ! दिव्य आपकी सुचारु चितवन रम्य
विश्व - उपवन की वसन्त - सुषमा - सी है।

३७५—जग में सुना है हितू मित्र का सुहृद ही है
वैरी परिपंथी का अ - वैरी कहलाता है।
किन्तु यह नियम न लागू किसी भाँति, अंब !
आपकी सुचारु चितवन में लखाता है।
यद्यपि अनूप अवलोकन तुम्हारा सदा
मेघ - नीलिमा से द्वेष - भाव प्रकटाता है।
तो भी इसे इन्द्र की वधूटी[3] करती हैं प्यार
तो भी यह मुग्ध नाल - कंठ[4] को नचाता है[5]।

३७६—जिसको न ज्ञात भक्ति - रस कहते हैं किसे
जगदम्ब ! जिसका विवेक से न नाता है।
जो कि अभिमान में सदा ही रहता है चूर
और जिसको न निगमागम सुहाता है।
जिसने न प्राप्त किया ऋत को न सत्य को ही
भूल कर मुक्ति के समीप जो न जाता है।
उस अधमाधम को करुण कटाक्ष तव
चाहता कदापि है न सुख का विधाता[6] है।

१-समूह। २-भूमि और आकाश के मध्य का भाग। ३-बीर बहूटी या शची आदि। ४-मोर या शंकर। ५-प्रत्यनीक अलंकार। ६-उत्पन्न करने वाला।

३७७—अंब ! यह आपका कटाक्ष कुवलय[1] - तुल्य
अति अभिराम सुख - धाम छबिवान है।
अंतर[2] में जिसके निरन्तर महेश्वर का
मानस - मधुप बद्ध रहता स - ध्यान है।
श्रुति के स - गंध इन्दीवर को स - गोत्र जान
जाता ऋजु[3] भाव से समीप मतिमान है।
फिर क्यों कुटिलता प्रकट करता है यह
कुटिल भ्रुवों का संग इतना महान है।

३७८—जो कि कामदेव - धृत सुमन - शरासन पै
बाण बन, अंब ! अतुलित यश पाती है।
जो कि भवदीय भक्ति युक्त सेवकों के लिए
सब जगतीतल सुरक्षित बनाती है।
और जो अलक्त[4] रंग - रंजित विभाव - युक्त
सुखद स्वभाव से प्रभाव प्रकटाती है।
वह भवदीय कमनीय करुणा की कोर
मेरे शोक - सिंधु को अगस्त्य बन जाती है।

३७९—अहह ! ललित संबलित[5] मोतियों मे रम्य
कुण्डल - प्रकाश दोनों ओर छबि छाता है।
जो कि श्वेत चामर - समान है चलायमान
और युग - श्रवण - समीप दृष्टि आता है।
बीच में लसित श्याम - रंग दृष्टि - पात तेरा
मंजु मकरध्वज वितुण्ड[6] - सा लखाता है।
जिस पै विराज कर करती प्रयाण रति
विजय - पताका भाल - तिलक सजाता है।

१-कमल। २-हृदय। ३-सीधे। ४-लाल। ५-युक्त। ६ हाथी।

३८०—यदि हरि - नील - मणि - सदृश बतादें इसे,
उपल कठोर है, मिलान मिलता नहीं।
कुवलय - सदृश कहें जो इसे, किन्तु वह
दिन में मलिन पहचान मिलता नहीं।
नीलिमा पयोद की निमित्त - परिसीमित[1] है
दोनों का कदापि व्यवधान मिलता नहीं।
अंब ! इस आपकी अपांग - सुषमा का रूप
अमित अनूप, उपमान मिलता नहीं।

३८१—सुकृती जनों के आननों पै पड़ती है जो कि
कोई श्याम चंद्रिका अनूप दिखलाती है।
बरस रही है जो कलित कविता का नीर
कोई मेघ - माला अनुदिन दरसाती है।
कोई अंधकार - कंदली है सुविशाल जो कि
बाल - चंद्र - भाल को विमोहित बनाती है।
भवदीय करुणा - कटाक्ष - लहरी है, जो कि
श्याम कोकिला - सी काम - बन को लुभाती है।

३८२—भूरि भक्ति - भाजन जनों के भव्य जीवन के
सिंधु पर सेतु मरकत - मणि वाला है।
या कि लोल - लीला से ललाम नलिनी की बनी
तुंग शंबरारि[2] - वैजयन्तिका विशाला है।
किंवा भगवान भूतनाथ के विलोचनों का
अंजन कलित कमनीय और काला है।
मेरे भव - बंधन शिथिल करने के लिए
आपके अपांग की महान मंजु माला है।

१-कारणों पर निर्भर रहने वाली। २-कामदेव।

३८३—कुवलय - कुल की असित कांति नाशने में
अप्रतिम[1] क्षमता दिखाते हैं कटाक्ष तव।
राज्य मनसिज महाराज का प्रसारने में
विश्व - विजयान्वित लखाते हैं कटाक्ष तव।
तू तो सर्वमंगला, शिवा, अनन्त शक्ति का है
मेरी कामना में पूर्ति लाते हैं कटाक्ष तव।
प्रणत - जनों के भव - बन्ध काटने में सदा
सुदृढ़ - प्रतिज्ञ दृष्टि आते हैं कटाक्ष तव।

३८४—हास - भास गंग - वारि - सदृश विलोक कर
यमुना प्रवाह के समान मिल जाते हैं।
सुन्दर अधर - लालिमा के सांध्य काल संग
प्रौढ़ अंधकार के प्रतान मिल जाते हैं।
कुण्डल कलित शोण - रत्न - प्रभा - पावक से
मानों धूम - अंकुर महान मिल जाते हैं।
प्रणत[2] जनों को प्राप्त ज्ञान के प्रकाश में यों
आपके कटाक्ष छविवान मिल जाते हैं।

१-अद्वितीय। २-भक्त।

चक्र-चर्चा

इस कांड में कवि १०० छन्दों द्वारा भगवती के चक्र का वर्णन करता है। प्रश्न हो सकता है कि चक्र तो विशिष्ट आयुध भगवान विष्णु का है न कि शक्ति का। परन्तु शाक्त ऐसा नहीं मानते। उनका तो यही मत है कि यह सभी आयुध विविध देवताओं को आदिशक्ति द्वारा ही प्राप्त हुये हैं। जो हो, हम कविता-प्रेमी लोगों को विशेषतया कविता से ही अभिरुचि है तथा हमें देखना है कि काव्य की दृष्टि से यह कांड कैसा बन पड़ा है।

मुझको व्यक्तिगत रूप से यह शतक कृपाण-वर्णन से अधिक अच्छा लगा। चक्र के वर्णन में कवि ने विशेष आलंकारिक आधार का निर्माण किया है और कई दृष्टियों से इस जटिल विषय को समझाने का प्रयत्न किया है। पहले चक्र के यश, प्रताप प्रभाव आदि का वर्णन करके कवि ने उसकी पिंडिका, धुरी, आरे तथा नेमि का वर्णन कई-कई छन्दों म किया है। तदन्तर उन विविध चक्रों के आध्यात्मिक तत्वो, को भी संनिविष्ट किया जिनके द्वारा उनकी पूजा होती है। भगवती के आयुधों का भी एक रहस्य है जो गूढ़ एवं गंभीर है और जिसका वर्णन शाक्त ग्रन्थों में निदर्शित किया गया है।

इस कांड में कवि ने चक्र के बिविध रूपक तथा उन रूपकों का निरूपण किया है। एक ही चक्र उसको कभी कल्पतरु, कभी इन्द्र-धनुष, कभी फण-मंडल, कभी कमल, कभी सिंह, कभी चक्रवर्ती राजा आदि आदि के रूप में दृष्टिगोचर होता है। रूपक के अतिरिक्त, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोध, सहोक्ति, विनोक्ति, वक्रोक्ति, संभावना, पूर्वरूप, अनुगुण आदि अलंकारों का प्रयोग भी बड़ी ही सफलता के साथ किया गया है। सारा कांड ओज-प्रधान छन्दों का समूह है तथा कवि के कौशल का मूर्तिमान उदाहरण है।

३८५—द्वादश - दिवाकर - प्रकाश - अप्रकाश कर
नाश कर तामस स्वकीय रंस[१] - माला से।
होकर महान उज्जिहान[२] रोदसी के मध्य
रच के प्रतान तेज - राशि विकराला से।
प्रलय - पयोद - तुल्य घोष से विदीर्ण कर
द्विषद - वधू के चित्त व्याकृति[३] विशाला से।
भस्म करता है शोक - ओक अघ - ओघ मेरा
अंब! भवदीय चंक्रमित चक्र ज्वाला से।

३८६—खुल खिल जाते हैं कमल - से अमल - दृग
कूच होता तम - से तमीचरों का डेरा है।
सकल दिशाओं में प्रचारित कृशानु - कण
होते हैं विकीर्ण आज सृष्टि का सबेरा है।
स्वर्ग में खगों[४] की ज्योति, व्योम में दिनेश दीप्ति
भूमि में सुमेरु - प्रभा करती बसेरा है।
त्रिभुवन - विजय - विधायक - प्रभाव - भरा
चलता प्रचंड जब चंडि! चक्र तेरा है।

३८७—सुभग सुधा - रस - प्रवाह - परिपूरित जो
चंद्र - मंडलालबाल - मध्य[५] वृद्धि पाता है।
भूमि में, गगन में, अमर - अधि - लोक में भी
अपनी प्रशाखा बाहु - सदृश बढ़ाता है।
प्रकट प्रभा है सौम्य सुमन - समूह की जो
ज्योति - व्याज साज किसलय के सजाता है।
चंड - मुंड - खंडिनि! प्रचंड चक्र चंडि! तेरा
अजर - पलाशी[६] - सा अमर - सुख - दाता है।

१-रश्मि। २-उत्थित। ३-विशेष आकृति। ४-नक्षत्र। ५-चंद्र-मंडल-रूपी आल बाल के मध्य में। ६-वृक्ष।

३८८—अपनी प्रभा से कहीं पिंगल[1] प्रतीत होता
आपकी प्रभा से अभिराम श्याम - अंगी है।
नख के प्रकाश से लखाता अति शुभ्र, देवि !
सुभग सिंदूर के प्रसार, का प्रसंगी है।
और भवदीय नील - लोचन - विभास[2] से ही
रखता निरंतर सुनील भाव - भंगी है।
अंब ! तेरी तर्जनी - धुरी पर चलायमान
चक्र इन्द्र - धनुष - समान बहु - रंगी है।

३८९—दीप्त पिंग - परिधि फुलिंग हुलसाती चली,
अरि झुलसाती चली वक्र गति गहती।
आरे अत्यधिक द्युति - पटल पसारे चले,
वायु को विदारे चले धारे ताप महती।
अपनी प्रभा के परिवेष[3] में निहित नेमि
नाचती चली यों बैरि - वनिता विदहती।
मानों ब्रह्म - नाभि से निकल वारिजात ज्योति
शक्ति की धुरी पर चलायमान रहती।

३९०—बैरि - वृन्द - मुण्ड विकचित वारिजात - सा है
लोचन मिलिन्द - सा अलक्त रंग स्नात है।
योषित द्विपद की विलीयमान प्रेतिनी - सी
शोषित - पराक्रम तमीचर का व्रात[4] है।
अभिनंदनीय बंधु - जीव[5] - छबि - युक्त रवि
विश्व - वंदनीय सांध्य - काल उपयात है।
दिन का प्रभात है कि युद्ध का प्रभात है, कि
प्रलय - प्रभात है न होता प्रतिभात है।

१-पीला। २-चमक। ३-मंडल। ४-झुण्ड। ५-रक्त पुष्प विशेष।

३६१—हो गया प्रकट रचने को जो विराट विश्व
अंतरिक्ष - मध्य निराधार लूमने लगा।
भूम की समृद्धि से विशाल व्योम - वृत्त रच
अतल - वितल - जन - तप चूमने लगा।
तारा - तारानायक - तरणि - मिष रोदसी में
झटिति फुलिंग का समूह भूमने लगा।
आसित त्रिदेव कर त्रासित अ - देव कर
भासित भ - चक्र[1] कर चक्र घूमने लगा।

३६२—राहु देख चक्र भासमान आसमान मध्य
बाहु को बढ़ा के मुख खोल ग्रसने लगा।
अथवा जवा का रक्त सुमन - समूह जान
श्याम कुण्डलीन्द्र ही प्रकाम डसने लगा।
दुस्सह परन्तु उस घोर ताप से हो दग्ध
केवल न साहस - विलीन लसने लगा।
विदित विधुन्तुद तभी से व्योम - भानु हुआ
अब्ज[2] से अधिक आर्यमा[3] से त्रसने लगा[4]।

३६३—दिनकर - किरण - विमंडित न गोल[5] यह
किरणावली है दिव्य अस्त्र - अधिराज की।
उन्नत - शिखर हिम - विन्ध्य - गिरि भासते न
प्रकटित होती छबि आरों के समाज की।
बीच में न द्वीप दिखलाते अभिराम यह
पिंडिका[6] मनोरम सजी है ज्योति - साज की।
शेष - भोग - संस्थित वसुन्धरा नहीं है यह
अंब - तर्जनी पर धुरी है चक्रराज की।

१-तारा-मडल। आकाश। २-चन्द्र। ३-सूर्य। ४-सूर्य-ग्रहण से अधिक चंद्र ग्रहण पड़ते हैं जिसके कारण की कल्पना कवि ने अपने ढंग से की है। ५-खगोल। ६-पहिये की पिंडी।

३६४—एक लोक - लोचन द्विविध कर्म नाशता है
करता त्रिनेत्र नम्र चार वर्ग - दाता है।
अरिगण को भी पंचता[1] के पथ भेजता है
षट् गुण - वाले सप्त - अर्चि का विधाता है।
अष्टापद[2] - किरण - समूह - युक्त भासता है
नव रस वाली कीर्ति कवि को दिलाता है।
दश विदिशाओं में प्रकाशमान राजता है
एकादश रुद्र में प्रमोद प्रकटाता है।

३६५—होकर भ्रमित संभ्रमित दिवसाधिनाथ
व्योम में विरममाण आयुध - शिखंड[3] पर।
अमित तृषा से अति व्याकुल अधीन दीन
खींचता है वारि भार लाद रश्मि - खंड पर।
टूक - टूक हो रहा सुधाधर - सुधा से हीन
पाला - सा पड़ा है आज उसके घमंड पर।
वारते त्रिलोचन अनल निज लोचन की
तेरे चंक्रमित[4] चक्र प्रबल प्रचंड पर।

३६६—तेरे चंक्रमित चारु चक्र की त्विषा[5] को देख
मूढ़ कवि उपमा कहीं न खोज पाते हैं।
जाते देखने को रक्त - कमल तड़ाग - मध्य
सिंधु में भी विद्रुम[6] विलोक न अघाते हैं।
देख नव पल्लव सराहते विटप को हैं
या कि सांध्य मेघ - रक्तिमा में दृष्टि लाते हैं।
होकर अतृप्त चढ़ गैरिक[7] - गिरीन्द्र पर,
सिर चकराते, गिर जाते, मर जाते हैं।

१-मृत्यु। २-सुवर्ण। अनुपूर्व अलंकार १ से ११ संख्या तक की गणना।
३-सिरा। ४-घूमता हुआ। ५-प्रकाश। ६-मूंगा। ७-गेरू।

३६७—होती जब उदय त्वदीय चक्र - ज्वाला, अंब !
सकल दिशा में 'हाय हाय' मच जाती है।
होते हैं अमर समारूढ़ वायु - यान पर
उनकी समुच्च स्वर घोषणा सुनाती है।
'हे रवि, तुम्हारी वह दीप्ति किस ओर गयी ?
इन्दु ! कहाँ चन्द्रिका तुम्हारी ? न दिखाती है।
तारक ! तुम्हारी छबि मंद क्यों हुई है आज
तड़ित ! तुम्हारी त्विषा[1] अब न लखाती है'।

३६८—बैरि - वधुओं के युग कर्ण में अलंकृत जो
दूब के हैं अंकुर, उन्हीं को सदा चरती।
होकर तृषित नीर पीती है जलाशय का,
शंकर - वृषभ - संग विपुल विचरती।
देती है अमृत - रस नित्य साधु - सेवकों को
विश्व के अमंगल - समूह नित्य हरती।
चक्रराज ! किरण तुम्हारे तीव्र पावक की
गो[2] की इस कारण उपाधि प्राप्त करती।

३६९—जो कि युद्ध-भूमि में सभीत पाक - शासन[3] की
सेना को अभीत करने में महा पटु है।
और, बैरि - विभव - विनाशक त्रिदेव में भी
साहस सदैव भरने में महा पटु है।
अष्ट वसु - युक्त आपयोनिधि[4] वसुन्धरा को
पालन की धृति धरने में महा पटु है।
चंडि ! चंड दीधिति[5] प्रचंड तव आयुध की
मेरी पाप - ताप हरने में महा पटु है।

१-उजाला। २-किरण। गाय। ३-इन्द्र। ४-समुद्र तक। ५-किरण

४००—ताप से स्वकीय दह्यमान बनती है जो कि
द्विषद - शरीर - रक्त - धारा नित्य पीती-सी।
हो रही नितान्त मत्तता को अविराम प्राप्त
झूमती हुयी जो घूमती है मन - चीती-सी।
मूलाधार काटने के व्याज अट्टहास कर
करती निशुंभ - शुंभ - धूम्र - आयु बीती-सी।
ज्योति वह आपके प्रचंड चक्र - नायक की
राजती गिरीश - नेत्र - शुक्र - जंग - जीती[1]-सी।

४०१—दनुज - भटों के भुज - दंड - दर्प की जो ताप
उससे प्रतप्त अमरों से सेव्य मान है।
पार कर दिग को, दिगन्त को अनन्त तक
काट करता है ऐसा कटक[2] महान है।
कर ज्वाल - धारा से निपातित अराति[3] - वृन्द
रचता भयंद निज पथ युयुधान[4] है।
चंक्रमित चक्र चंडि! चलता त्वदीय जब
आता भूमि - चाल, काँप जाता आसमान है।

४०२—यद्यपि निरन्तर भ्रमण करता है यह
तो भी सेवकों का भ्रम नष्ट कर देता है।
सूर्य्य के प्रकाश को त्वरित ढक लेता, किन्तु
रवि - छबि - ओज - सा प्रकाश भर देता है।
अंधकार व्याप्त कर देता है खलों के उर
तो भी ज्योतिमान हो तमिस्र[5] हर देता है।
धारा - वाहिनो[6] है गति चक्र की तुम्हारे, किन्तु
बैरियों के मुख में अनल धर देता है।

१-शंकर के तृतीय नेत्र के ओज को भी जिसने जीत लिया है। २-काटने वाला। ३-शत्रु। ४-लड़ने वाला। ५-अंधकार। ६-जलधारा-सी बहने वाली।

४०३—जिसने स्वकीय तेज - धारा से स्व - दर्प - दग्ध
शुंभ को निधन - शैत्य[1] से ही नहला दिया।
और, चंक्रमित चाल-द्वारा काल - गाल - मध्य
काट राहु - केतु - सा अघी[2] को बिठला दिया।
फिर, वृष - भानु[3] से प्रतापित बनस्थली - सी
शत्रु - सैन्य अपने प्रताप से जला दिया।
चक्र वह आपका कुचक्र करता है नष्ट
शक्र - तेज को भी तक्र - तुल्य शितला दिया[4]।

४०४—अपने विशाल बिम्ब द्वारा देव - दारा - दृग-
कमल - विमल - हिम - जल को सुखाता है।
मोह अंधकार से जनित रजनी को सदा
नष्ट करता है ज्ञान - वासर उगाता है।
गगन - ग्रहों की पूर्ण पावक प्रभा को जो कि
अपनी विभा से गत - विभव बनाता है।
ऐसा चक्रराज महा मिहिर तुम्हारा, अंब!
सूर्य - चक्र - वेध[5] - पाठ मुझको पढ़ाता है।

४०५—देवों के, तथैव दनुजों के, जो कि विग्रह को
निग्रह में नित्य तुल्य - योगिता[6] से लाता है।
और पत्र - भंग - अनुवृत्ति[7] की प्रवृत्ति - द्वारा
शोभा को, अशोभा को समान ही बढ़ाता है।
भूतिमय प्रकृति - समेत जा सुरासुर की
रम्य राजधानियों का विभव बनाता है।
चंडिके! तुम्हारे उस चक्र का प्रचंड तेज
एक - साथ सृजन - विनाश बरसाता है।

१-मृत्यु की शीतलता। २-महिषासुर। ३- प्रचंड सूर्य। ४-ठंढा कर दिया। ५-योगियों की एक सिद्धि, जिसमें वे अपनी दृष्टि से सूर्य-चक्र का वेध करते हैं। ६ बराबरी। ७ पत्र अर्थात् वाहन आदिकों का बार-बार भंग होना।

४०६—जब चलता है चंडि ! पावक प्रचंड हेति[1]
गमन - दिशा में दिग - दाह जल जाता है।
घोर मार्ग - मध्य भूत - प्रेत करते हैं नृत्य
सांध्य सविता - सा शत्रु - शौर्य ढल जाता है।
भस्मसात हो के पल[2] उड़ता निशुंभ का है,
घृत के समान शुंभ - मेद गल जाता है।
धूम्र - अस्थि - पंजर पै चलता है चक्र, या कि
पिंग शस्य जोतता अनल - हल जाता है।

४०७—चक्रमयी ज्वलना तुम्हारे, अंब ! आयुध की
दग्ध कर देती दानवों का दल - बल है।
होता अस्थि - भस्म - परिपूर्ण गगनांगन भी
अतल - वितल में लखाती हलचल है।
रोती हुयी बैरि - वनिताओं के दृगों से चल
जल अंग - राग - रंग - रंजित स - मल है।
मृत पतियों का जल - दान करने के मिष
होता यह शोणित - प्रदान अविकल[3] है।

४०८—शंभु सोचते हैं कहीं ज्वलित ललाटानल
धान के पयाल - सा त्वरित बुझ जाये ना।
बैठे कमलासन विचारते स - त्रास यह
'मेरे वास - कंज[4] - कोष को भी यों जलाये ना'।
सहज स - भीत देवराज करते हैं तर्क,
'मेरा वज्र इन्दु - सा सुशीतल बनाये ना'।
अंब ! भवदीय चक्र - ज्वाला समर स्थल में
क्यों फिर दुरन्त हो तुरन्त यश पाये ना।

१-आयुध (चक्र)। २-मांस। ३-पूरा। ४-वास करने का कमल।

४०९—अमित अखंड अति चंड ज्वाल - मालिका से
दानवों का आयुध - समूह दलती हुयी।
करती विनष्ट योग - निद्रा चक्र - पाणि की भी
घोष[1] से सकल सिंधु खल भलतो हुयी।
वेग से निशुंभ - शुंभ - धूम्र के उरस्थल की
अस्थियों को चर - मर कर, जलती हुयी।
बढ़ती जभी है नेमि चक्र की तुम्हारे, चंडि !
मूर्तिमती प्रलय लखाती चलती हुयी।

४१०—चंचला - प्रचारा चंक्रमित चक्र - धारा, चंडि।
करती अपारा तारावलि भिंग रंग की।
पारावार - पूरित सलिल का प्रपात कर
बढ़ती रसातल को अमित उमंग की।
काटती कुलाचल महानघोर घोष - युक्त
पाटती तलातल धनंजय[2] - प्रसंग की।
मारती अयोमुख[3] सँहारती निशाचर भी
धारती प्रचंड तेज साहस अभंग की।

४११—चंडि ! तेरे चंक्रमित चक्र की प्रचंड चाल
छोड़ती थी कोई न स - जीव स्वीय पथ में।
त्रस्त थे करुण, भय - भीत थे कुबेर, और
होते थे विवर्ण सूर्य्य एक - चक्र रथ में।
सारे चर - अचर असह्य ताप से थे दग्ध
पतित हुये थे दैत्य आमय,[4] प्रकथ में।
आरा के समान धारा चलती महीधरों पै
होते जो न शिखरी[5] स-पक्ष सृष्टि - अथ[6] में।

१ ध्वनि। २-अग्नि। ३-दैत्य। ४-रोग (दुःख)। ५-पहाड़। ६-प्रारम्भ।

४१२—अंब ! जब तेरी तर्जनी से चक्र छूटा द्रुत
प्रति - पद घोर धूमकेतु झरता हुआ !
पारावार लाँघ बढ़ा दैत्य - लोक नाशने को
पथ का सलिल धूम - तुल्य करता हुआ।
नष्ट कर दानव, विनष्ट यातुधान कर
लौटा जब अग्नि मुख[1] - दुःख हरता हुआ।
आया वैरि - वनिता - विलोचन - प्रवाह - द्वारा
सूखे सागरों में फिर नीर भरता हुआ।

४१३—चंडि ! जब तेरी उँगली से चंक्रमित चक्र
छूट नाग - लोक को प्रयाण करने लगा।
दीपक प्रभात के - से फणि - मणि - वृन्द हुये
अपनी प्रभा से तम - तोम हरने लगा।
अतल - वितल - अंध - तमस[2] निलीन कर
हीन कर शत्रु भी, न धैर्य्य धरने लगा।
वैरि वधू वृन्द विषएण हृदयों में तब
भार अंधकार का अपार भरने लगा।

४१४—काली मेघ - माला की प्रलम्ब रसना सी यह
अति अभिराम शोभा रखती अपारा है।
और, वैरि - वृन्द - वनिताओं के दृगों से सदा
अन्तर - विहीन[3] बरसाती वृष्टि - नारा[4] है।
प्रकटित अमर - चमू के सिंहनाद संग
होकर लखाती तप्त हेम - रुचि - हारा है।
चलती चपल चाल चमक प्रचंड, चंडि !
चंक्रमित चारु चंचला - सी चक्र - धारा है।

१-देवता। २-घोर अंधकार। ३-निरन्तर। लगातार। ४-जल

४१५—वप्र[१] - भेदिनी है शक्ति अतुलित ओज - युक्त
चाल में कराल नाश - केतु की अदीनता।
तड़ित - निगड़[२] से निबद्ध निज - तंत्र किन्तु
तारा - अर्चि - मंडित बरंडक[३] - विहीनता।
धारण किये हुये विशाल दानवारि - रूप
त्याग कर भागा यूप[४] - अंगुलि - अधीनता।
देख पड़ती है तेरे चंक्रमित चक्र - मध्य
गगनाभिगम्य गुरु ऐरावत - हीनता।

४१६—हाथ पै चला तो हाथ साठ हाथ दूर गिरा,
पाँय पै चला तो दैत्य हो गये अपाय[५] - युक्त।
सर पै चला तो सर करता निशुंभ शुंभ
कंठ पै चला तो बने राहु - तुल्य कंठ - मुक्त।
यों ही पंच - पथ[६] से बहा जो रक्त दानवों का
उसको स्वकीय रसना से करती जो भुक्त।
ऐसी प्रज्वलित चक्र - धारा चंडि ! आपकी है
शुक्र[७] से अकथ, उषना[८] से न कदापि उक्त।

४१७—इन्द्र - चाप - रंजित पयोधर - घटा-सी श्याम
नाट्य की यवनिका समक्ष से हटी - सी है।
तारावली शुभ्र सुमनांजलि - समान, अहो !
व्योम - रंग - मंच पर प्रकट पटी - सी है।
विपुल विषाद-ग्लानि-चिन्ता से विशीर्यमाण[९]
दैत्य की समिति सब ओर से डटी - सी है।
मध्य में अनेक ताल - युक्त भवदीय, अंब !
चंक्रमित चक्र - नेमि नाचती नटी - सी है।

१-उच्च भूमि। २-शृंखला। ३-हौदा। ४-खूँटा। ५-क्लेश। ६-मृत्यु। ७-कवि श्रेष्ठ। ८-प्राचीन भागवत कवि। ९-दुःखित।

४१८—लख पड़ती है नीर - धारा - सी मरुस्थल की
और अतुलित धन - धारा धन - हीन की।
दिव्य दृष्टि - धारा-सी विलोचन - वियुक्त की है
पद - सरि[1] - धारा खंज चरण - विहीन की।
पुण्य प्रेम - धारा भक्त-गण के लिए है जो कि
करती स्वतंत्र सेवा संसृति अधीन की।
ऐसी चंक्रमित चक्र - धारा चंडि ! आपकी है
संहृति[2] - समान तो भी दैत्य संयुगीन[3] की।

४१९—त्राण - तुल्य लसती सकल जगतीतल में
और, काम - पूर्ति करने में जो कुशल है।
जिसके समीप रह सकता कदापि नहीं
षोडस कला से युक्त चन्द्र अशकल है।
जिसका प्रचार है अकालिक[4] अकालकी[5] - सा
जिसकी महान प्रलयंकर अनल है।
चंडि ! तेरे चंक्रमित चक्र की चपल नेमि
शंभु के तृतीय - दृग - तेज से प्रबल है।

४२०—रचती विचूर्ण तारकावलि, धवल - धूलि—
धूसरित रोदसी - दिगन्तराल करती।
और, जीर्ण - शीर्ण पीत-पल्लव-समान मेघ—
मंडली विलोक जिसे व्योम में बिखरती।
ऐसी जन्म - सिद्ध वेग - संयुत रणस्थल की
दैत्य - अटवी[6] में झंझानिल - सी बिहरती।
तेरी चक्र - नेमि चंडि ! प्रबल बवंडर - सी
तूल - तुल्य पाप छिन्न - भिन्नकर हरती।

१-चाल। २-संहार। ३-योद्धा। ४-अकस्मात् गिरने वाली। ५-बिजली।
६-बन।

४२१—धन - हीनता की प्रौढ़ ताप के विनाश हेतु
जो कि अविराम वित्त - धारा बरसाती है।
हाहाकार करके गरज उठती है घोर
चंचला - सी अनल - शिखा भी प्रकटाती है।
दुष्ट - दैत्य - दारा - दृग - जनित प्रवाह को भी
सकल दिशाओं में निरंतर बहाती है।
नाचते विलोक के प्रथम प्रचलाकी[1] - तुल्य
श्रावण - घटा - सी चक्र - नेमि छवि छाती है।

४२२—ब्रह्म - रुद्र - विश्वदेव - देव - वर्ग - द्वारा गेय
मंत्र से ध्वनित युद्ध - यज्ञ दिखलाता है।
अति अभिराम श्लाघ्य सत्र के प्रयोग से जो
प्रथित लखाता अतुलित फल - दाता है।
छाग - समुदाय - तुल्य दैत्य के समूह को भी
अग्नि - कुण्ड - मध्य द्रुत आहुत बनाता है।
चक्र - प्रधि[2] तेरा चंडि ! होकर स्रुवा के तुल्य
निज - निज भाग देवताओं को दिलाता है।

४२३—या तो युद्ध - भूमि में प्रवृत्त दैत्य - वृन्द - हेतु
केतु महानाश के भयंकर लखाते हैं।
या कि रण - सज्जित मदान्ध असुरों के लिए
मृत्यु - पथ ज्वलित प्रदीप से दिखाते हैं।
अथवा त्रिलोक - गेह - यूप[3] से प्रकाशमान
रत्न से जटित अमिताभ दृष्टि आते हैं।
आरे, चंडि ! चक्र के सहारे सुर - मंडली के
धारे ज्योति लपट पसारे दिखलाते हैं।

१-मयूर । २-नेमि (घेरा) । ३ खम्भा ।

४२४—नाभि आल - बाल के समान हैं सुवृत्त जहाँ
दैत्य - रक्त - नीर - सा भरा हुआ लखाता है।
ज्वाला - जाल शोभित प्रवाल[1]-पुंज-तुल्य, और
चक्र उपवन - सा महान छबि छाता है।
चंडि ! कर तेरा वंश[2] - सदृश विराजमान
जिस पर अंकुर - समूह फैल जाता है।
कनक - लता के अति वितत[3] प्ररोह[4] - सम
आरों का प्रसार तेजवान दिखलाता है।

४२५—ज्वाला - जाल मुद्रित समुद्र के समान दिव्य
नेमि - चक्र - तुल्य भूमि - वृत्त[5] ध्रुव धारे हैं।
कुण्डलित शेष - सी अशेष[6] पिंडिका है मंजु
प्रौढ़ रत्न - शोभा से विरंचि ने सँवारे हैं।
ऐसे अमिताभ[7] दश - शत गणना में शुभ्र
अमर - प्रशंसित अनल - मय आरे हैं।
जिनके सहारे दुःख हीन सुर सारे चंडि !
चक्र ने तुम्हारे फण - मंडल पसारे हैं।

४२६—बहु विध असुर - समूह को विनष्ट कर
प्रकटित होते एक - चक्र[8] के जयी से हैं।
चारों ओर होके बद्ध - अंजलि विनत बन
सेवा में उपस्थित अमर विनयी - से हैं।
सृष्टि रचने में, पालने में, और नाशने में
एक - मात्र व्यस्त ही न विबुध - त्रयी - से हैं।
किन्तु भिन्न - भिन्न देव-लोक को अभिन्न कर
आरे मान - दण्ड - तुल्य चक्र विजयी - से हैं।

१-पत्ते। २-बाँस। ३-फैला हुआ। ४ पौदा। ५-गोला। ६-सब। ७-अत्यन्त शोभा वाल। ८-सूर्य्य।

४२७—अनल - तरंग - पंक्ति - निबिड़ - प्रदेश - युक्त
वेला[1] के समान नेमि अति छबि वाली है।
मध्य में विराजमान मूर्ति भूति - भावन की
जिनकी सुधन - भोग - ग्रथित प्रणाली है।
परम प्रकृष्ट मणि - मंडल - विमंडित हो
आरों की वितति अति शुचि - रुचि - शाली है।
या कि उत्तरोत्तर प्रवर्धमान विद्रुम[2] - सी
वाडव - शिखाओं की प्रचय विकराली है।

४२८—चंडिके ! तुम्हारे चंक्रमित चक्र में जो लगे
आरे अतिशय छबि धारे दृष्टि आते हैं।
शत्रु - सैन्य - शोणित से सिंचित हुये हैं यह
अंकुर - सदृश अमिताभ दिखलाते हैं।
आभा अवलोक विकचित कुसुमाकर की
सुकवि अनूप उपमा यों बतलाते हैं।
नाभि - आल बाल[3] में लसित रक्त - अंबुज के
ललित - ललित नव पल्लव लखाते हैं।

४२९—द्रुम - गण - मंडित विपिन के लिए ज्यों उग्र
दावानल अमित भयंकर लखाता है।
अथवा, अपार पारावार मध्य प्रज्वलित
घोर बड़वानल सलिल को सुखाता है।
रजनी कहू[4] के अति गाढ़ अंधकार को ज्यों
प्रात में प्रभाकर प्रभा से चाट जाता है।
वैसे दैत्य - सैन्य - हय-गज-घटना[5] में, चंडि !
चंक्रमित चक्र तेरा प्रलय मचाता है।

१-किनारा। २-मूँगा। ३-नाभि-रूपी आल बाल अर्थात् वृक्षों के मूल के चारों ओर खुदा हुआ घेरा। ४-अमावस। ५-समूह।

४३०—दानव - प्रताप - ताप - तप्त अवनीतल को
त्रायमाण[1] करता हुआ जो दिखलाता है।
छिन्न पट्ट - अंचल - सदृश नयनाभिराम
ज्वाला का कलाप लोल - ललित लखाता है।
और, अभिराम श्याम नीलम - शलाका - सम
कालिके ! तुम्हारा भुज - दण्ड दृष्टि आता है।
रोदसी में उत्थित प्रथित[2] चंक्रमित चक्र
छत्र के समान अतुलित छबि छाता है।

४३१—करिणी - समान दैत्य - इन्दिरा - हरण - हेतु
नाभि गर्त[3] - तुल्य चक्रराज की लखाती है।
और, उसे बाँध रखने को दृढ़ता से, अहो,
स्वर्ण - यूप - तुल्य अर[4] - अवलि सुहाती है।
मानते इसे जो क्लिष्ट - कल्पना मदीय, आप
तो फिर अपर उपमा यों चित्त आती है।
मानों धूम्र - केश - व्रज[5] - विजय - महोत्सव में
देव - हस्त - निचय समुत्थित लखाती है।

४३२—या तो नाभि - तरणि - मयूख - पुंज फैला हुआ
नेमि - लोकालोक तक आतप बढ़ाता है।
अथवा गहन - रण - रजनी - प्रविष्ट यह
दीपक - समूह अंधकार को भगाता है।
किम्वा दानवों के मद - हेम की महान रेखा
होकर निकष[6] - तुल्य चक्र प्रकटाता है।
अंब ! तव आयुध के आरों का कलाप यों ही
नित्य तपता है, भासता है, कीर्ति पाता है।

१-रक्षित। २- पूजनीय । प्रशंसित। ३-खड्ढा। ४-आरा। ५-समूह। ६-कसौटी।

४३३—चंडि ! तेरे कर - कमलों में चंक्रमित चक्र
कमल - समान हो रहा है अभिषंग[1] से।
कुण्डलित ज्वाला के शकल[2] - सम चारों ओर
दलों का समूह युक्त सुषमा अभंग से।
नाल के समान भवदीय कर राजता है
हेति - मध्य - देश प्रात - पूषण - प्रसंग से।
आरे पिंग के सर - सदृश प्रकटाते छबि
धारे परिमल - प्रभा - अंकुर उमंग से।

४३४—तू जब उठाती चक्र एक - चक्र[3] नाशने को
हाथ पर आयुध विराजमान होता है।
गैरिक - गिरीन्द्र के सदृश लसता है लाल
गगन उदीयमान - सूर्य - यान होता है।
नाभि सानु[4]-तुल्य नेमि भासती नटी-सी, अंब !
आरों का प्रसार देख - देख भान होता है।
मानों धातु - सलिल - प्रपात - समुदाय गिर
शोणित - प्रवाह - पुंज के समान होता है।

४३५—पिंडिका रथांग[5] की महान तेजवान बन
द्वादश - दिवाकर - प्रताप को लजाती है।
दिव्य - नाक - लोक इन्दिरा के मंजु भाल-मध्य
पद्मराग - द्रव के तिलक - तुल्य भाती है।
दैत्य - प्राण - हारी रण-मध्य सिंह-वाहिनी का
केवल न प्रथित प्रमोद प्रकटाती है।
अपितु प्रदान कर वासव[6] - विभव भूरि
भूमि - नायकत्व[7] निज दास को दिलाती है।

१-साथ। २ टुकड़ा। ३-निशाचर। ४-चोटी। ५-चक्र। ६ इन्द्र।
७-नृपत्व।

४३६—जिसमें महान अस्त्र - शस्त्र श्याम - रंग के हैं
तरल तरंग - सी तुरंग - छबि छाती है।
नाग नक्र - तुल्य रथ लसते महीधर - से
मीन - मंडली-सी असि - अवलि लखाती है।
क्रुद्ध - दैत्य - आनन लसे यों रक्त रंग वाले
सुषमा प्रवाल[1] - पुंज - सम दिखलाती है।
ऐसे महा - असुर - अनीक - अकूपार[2] - मध्य
चक्र - नाभि वाडव - समान दृष्टि आती है।

४३७—चारु चक्रराज - चाल - चातुरी - निहत वैरि—
मंडली विलोक शोक - हीन देव - राज हैं।
ज्वाल - माल - मंडित प्रचंड प्रलयानल के
घोर अभिचार से विनष्ट शत्रु - साज हैं।
दावा के समान कावा[3] दैत्य - अटवी में काट
आरे डाल देते प्रति - पद गुरु गाज हैं।
वैरि - वधू मृष्ट[4] - भ्रष्ट शम्बर[5] - समूह, देवि !
देव - वधू हृष्ट, पुष्ट अमर - समाज हैं।

४३८—शोणित हताहत - असुर की अनी[6] का जिसे
रक्त - रंग - रंजित निशा मुख बनाता है।
खंड हड्डियों के तारा - मंडल - समान फैल
देख पड़ते हैं सांध्य नभ बन जाता है।
दैत्य - विजयोत्सव[7] - प्रमत्त सुर - सुन्दरी के
मंडल का हास्य विधु - मंडल उगाता है।
आगत - निशा-सी चक्र - नाभि का प्रयाण देख
सुप्त प्राणियों सा शत्रु - वृन्द मोह जाता है।

१-मूँगा। २-समुद्र। ३-चक्कर। ४-मींजी हुयी। ५-दैत्य। ६ सेना।
७-दैत्यों पर विजय पाने का उत्सव।

४३९—उन्नत हिमाद्रि-सा हिमाद्रि की सुता का कर
गौर पंच-शृंग[1] योगि-संश्रय[2] लखाता है।
जिससे चला है चारु चक्रानल-सिंधु द्रुत
जो कि पर-बल-जल-धाम[3] में समाता है।
होकर दिगन्त-कूल-नाशक प्रवाह-युक्त
लहर-समान अर-अवलि बनाता है।
भौंर-सी प्रचंड नाभि चंक्रमित होती जहाँ
दानव-समाज का जहाज डूब जाता है।

४४०—युद्ध-चक्र-व्यूह रच कर रक्त-मंडल से
नेमि को हवन-कुण्ड-सदृश बनाया है।
आरे उग्र अनल शिखा से दीप्त होते जहाँ
हव्य शत्रु-क्रव्य द्रव्य-परिधि सजाया है।
ऐसा होम करके समापन[4] प्रसन्न चित्त
विजय-प्रसाद अम्बिका ने जो कि पाया है।
विधि ने उसी के एक भाग से अरुण-काल[5]
दूसरे से यामिनी-बदन[6] उपजाया है।

४४१—धारा के प्रवाह से निरंतर धुली हैं दीन-
हीन वैरि-वनिता-विलोचन-लुनाई है।
ललित कपोल से कलित मुख-मंडल में
बलित[7] विनीत पीत-फेन-अधिकाई है।
और कुछ ऊपर अकाज करती है आज
तिलक-विहीनना ललाट से सगाई है।
दैत्य-दुख-दायी देव-दल की निकाई नहीं,
यह सब छायी चक्र-नाभि की बड़ाई है।

१ कैलाश। २-योगियों का आश्रय। ३-शत्रुओं के बल का समुद्र। ४-निर्माण। ५-प्रभात। ६-संध्या। ७-युक्त।

४४२—उच्च इतनी कि न समुच्च जितना है नभ
रमणीयता में कल कंज को लजाती है
भासती है विधि के विधान से भी दूरतर
सकल सुवृत्त[1] भूमि-मंडल बनाती है।
पिंड वृहदायत[2] निरुद्ध[3] अरविन्द-सा है
जिसमें गगन-बद्ध-भृंग-छबि[4] छाती है।
ऐसी चंक्रमित चक्र-नाभि की सुचारुता में
अंब! अधिकारिता तुम्हारी दृष्टि आती है।

४४३—देवासुर-समर कदापि न जुटा है यह
चक्र की अनूप वर-यान[5] अलबेली है।
नेमि नहीं चंक्रमित हेति की चलायमान
विजय-वधू की मूर्त प्रणय-सहेली है।
आरे ज्वाल-जटित न देख पड़ते हैं यह
अति अभिराम कुश-संयुत हथेली है।
नाभि न गँभीर भवदीय, अंब! आयुध की
विरची विलास हेतु हेम की हवेली है।

४४४—वाणी के समान चार अंग[6] से विभूषित हो
सुमन[7]-सदन में प्रकाशमान होती है।
इन्दिरा-सदृश कर-आमलक-तुल्य सदा
कर में मुकुन्द के भी भासमान होती है।
सृष्टि-आदि-मध्य-अवसान के सिंहासन पै
मुदित मृड़ानि-सी विराजमान होती है।
नाभि चारु चंक्रमित चक्र की तुम्हारे, चंडि!
विधि-हरि-शम्भु-धाम-भ्राजमान होती है।

१-गोल। २-बहुत बड़ा। ३-बंद। ४-जिसमें आकाश-रूपी भृङ्ग बँधा हुआ है। ५-बरात। ६-ध्वनि-वर्ण-पद-वाक्य। चत्वारि वाक्-परिमिता पदानि, इति श्रुतिः। ७-देवता।

४४५—दैत्य - मेद - मज्जा - माँस - संजनित गंध-युक्त
देख पहले तो सुर - बाला डरने लगीं।
फिर कुछ आकर समीप दृढ़ चित्त कर
चक्र - नाभि का यों उपकार करने लगीं।
अगर - तगर - धूप - युक्त बहु धूम कर
घूम कर चारों ओर पुष्प झरने लगीं।
पूर्ण - चन्द्र - चंद्रिका - मनोहर पटीर[1] - पंक
अंक में लगाकर कलंक हरने लगीं।

४४६—विनत जनों के जन्म - जन्म के अनेक पाप
नाश कर देती रहता न कहीं लेखा है।
दण्डक[2] - समान अति दारुण महीतल में
जिसके प्रसाद ने परम पद पेखा है।
नाभि वह चंक्रमित चक्र की तुम्हारे, चंडि !
खींचती अनन्य - वीरता की रम्य रेखा है।
युद्ध में विमोहित असुर - मंडली को, अहो !
बस इसने ही निज लोचनों से देखा है।

४४७—तेरे चक्र - अक्ष के महान क्षोभ से हो क्षत
बन्दी - वैरि - वनिता न मंगल मनाती हैं।
वह सुर - युवति - समाज - मध्य बैठ कर
चौसर का खेल खेल मन बहलाती हैं।
किन्तु श्रुति - कटु 'अक्ष'[3] शब्द सुन व्याकुल हो
इधर - उधर देख - देख घबराती हैं।
उनकी मनोगति विलोक देव - दारा सभी
हँस पड़ती हैं, उन्हें लज्जित बनाती हैं।

१-चन्दन। २-दण्ड देने वाला बन। ३-पाँसा।

४४८—देवासुर - समर महान घोर पावस - सा
डंका वज्र - घोष, शर बुन्द से लखाते हैं।
जिसमें तृषातुर विहग अस्त्र - शस्त्र वृन्द
अपनी पिपासा रक्त पीकर बुझाते हैं।
अशनि - समान भवदीय चक्र - अक्ष गिर
नाश करता है शत्रु - वृक्ष टूट जाते हैं।
छिन्न शिर होते खिन्न होते हैं प्रसून - वृन्द
भिन्न[१] पत्र होते यत्र - तत्र मुरझाते हैं।

४४९—देवासुर - समर विशाल यज्ञ - भूमि - तुल्य
चंडि ! चारु चंक्रमित चक्र - अर - यूप है।
हव्य के समान हुत[२] होता है दनुज - कुल
नेमि अति सुदृढ़ श्रुवा[३] के अनुरूप है।
वेदिका - सदृश पिंडिका है दिव्य तेज वाली
मध्य में उसी के अक्ष कुण्ड का स्वरूप है।
जो कि दैत्य-भाग्य-विनिमज्जन-निखात[४] घोर
और पाप पूर्ण पशुता को अंधकूप[५] है।

४५०—चंडिका के घोर-दोर[६]-दण्ड का गिरीन्द्र त्याग
दैत्य - दन्ति - वृन्द अति अवहेलता हुआ।
उनका महान मद - वारि छिन्न - भिन्न कर
खिन्न कर मौक्तिक वितुण्ड ठेलता हुआ।
रंजित नखच्छद - गलित रक्त - धार - द्वारा
व्यंजित विशिष्ट वीरता सकेलता हुआ।
समर - समक्ष चक्र - अक्ष - समकक्ष आज
देखा भीम - विक्रम[७] मृगेन्द्र खेलता हुआ।

१- अलग-अलग। २-भस्म। ३-घी डालने का चमचा। ४-दैत्य-भाग्य को डुबोने का कुंड। ५-अँधेरा कुआँ। ६-भुजा। ७ भयंकर विक्रम वाला।

४५१—देवि ! दीप्तमान पद्मराग की अँगूठी - सम
दक्षिण भुजा का अवतंस[1] जिसे जाना है।
और जिसे परम प्रदीप्त किरणों से युक्त
शंभु - नेत्र - तुल्य नेत्रवानों ने बखाना है।
उस अमिताभ चक्र - अस्त्र को विलोक कर
कवि की अनूप धारणा ने यह ठाना है।
आपका प्रताप - रवि देख परिवेष - युक्त
अपना अहित अहितों[2] ने अनुमाना है।

४५२—क्रीड़ित वराह भगवान की दुरन्त दाढ़—
द्वारा जो दलित - विदलित खंड - खंड रिपु।
हाटक - विलोचन[3] के वितत उरस्थल से
शोणित बहा तो नम्र हो गया दुरन्त रिपु।
लोहू से लुहान पारावार के समान रक्त
चंडि - चक्र - अस्त्र देख भूला यों घमंड रिपु।
वृत्त लख नेमि का कुवृत्त[4] लंबमान[5] बना
शोक - युक्त हो गया विलोक अर - दण्ड रिपु।

४५३—सूर्य्य के समान नित्य देता है प्रबोध दिव्य
कमलानुराग - वृद्धि करता लखाता है।
चन्द्र के समान निज छाया - रोहिणी को सदा
तारकाग्र धाविनी प्रमोद से बनाता है।
अग्नि के समान नाना हेति को समुच्च कर
स्वीय पथ - मध्य मृत्यु - कालिमा लगाता है।
चंडि - चक्र - अस्त्र वक्ष रक्त[6] का विदीर्ण कर
अर्क[7] - इन्दु[8] - अनल - त्रयी पै जय पाता है।

१-भूषण। २-शत्रुओं। अर्थात् परिवेष से घिरे हुए सूर्य्य या चन्द्रमा को देखकर लोग अनिष्ट की कल्पना करते हैं। ३-हिरण्याक्ष। ४-दुराचारी। ५-लम्बा हो गया अर्थात् मर गया। ६-राक्षस। ७-सूर्य्य। ८-चन्द्रमा।

४५४—सुषमा अनूप पद्मराग - द्रव - तुल्य शोण[1]
लोहित अशोक - पुष्प - सदृश अ - मान है।
अथवा प्रभात - पुण्डरीक - सी महान रक्त
या कि राहु - विद्ध क्षत रवि के समान है।
तेरे कंज - हस्त की मनोज्ञ बर्जनी पै चढ़
करता सुचारु चक्र ऐसा अभिमान है।
रूप में विमुग्ध बन नाच उठता है, देवि !
रंग में उमंग भर होता गतिमान है।

४५५—संस्थित हो पहले त्वदीय तर्जनी पै अस्त्र
अपनी प्रभा से शान्ति में भी क्रान्ति भरता।
डोलता है प्रथम, प्रगति करता है फिर
फिरता प्रवेग से प्रचंड तेज धरता।
छूटता जभी है अंगुली से प्राण नाशने को
वैरि - बाहु - ग्रीवा - शीस - घाट से उतरता।
पार करता है शुंभ - शोण[2] - शोणभद्र,[3] और
वाड़व - सा शत्रु - रक्त - सिंधु में विहरता।

४५६—रात - दिन संसृति सृजन करने का कार्य
कठिनातिकठिन दुरूह है, महान है।
और, प्रेम - भाव से भुवन - परिचालन का
कृत्य गुरुतर है, विषम है, अ - मान[4] है।
कुटिल - कठोर कर्म विश्व के विनाशने का
घोर श्रम - मूलक है, निधन - निधान[5] है।
स्वीय श्रान्ति - हेतु चक्र अस्त्र का निवेश रच
मानों योग - माया योग - निद्रा में शयान[6] है।

१-लाल। २-रक्त। ३-एक नद। ४-अमित। ५-मृत्यु का भांडार।
६ लेटी हुयी।

४५७—चंक्रम - चलित चक्र - अक्ष - मध्य तेरी शक्ति
ए री शक्ति - वाहिनी विराजमान होती है।
जिसकी अमित अनुरंजित प्रभा की रश्मि
नयनाभिराम ऐसी भ्राजमान होती है।
जैसे कि जपा के कमनीय कुसुमों के कोप—
मध्य शोण सुषमा प्रकाशमान होती है।
अथवा शरद - प्रात - मेघ से पटल फोड़
तरुण - अरुण[1] - ज्योति भासमान होती है।

४५८—अति मनुजों के दुःख दूर करने में लग्न
नेमि हेतिराज की अतुल शक्तिशाली है।
अतिशयता को जानने की लालसा के हेतु
पूर्ति - मूर्ति अमिताभ आरों की प्रणाली है।
और, वसु - विभव - विभूति अभिलाषियों को
करती प्रदान नाभि - संपति निराली है।
चारु चक्र - अक्ष चंडि! करता प्रदान ज्ञान
चारों ओर फूली कीर्ति चारों फल[2] वाली है।

४५९—सुर प्रतिपालता सुरासुर - रणस्थल में
असुर सँहारता अमोघ वेग - बल से।
देता अवकाश पुरहूत के इरम्मद[3] को
विजय - वधू की बिदा लेता दैत्य - दल से।
जिसका पराक्रम प्रताप एक - मात्र लक्ष्य
सनक - सनन्दन - सनातन - सकल से।
चक्र वह तेरा, चक्र - अक्ष वह तेरा, अति
उन्नत अचल से, विदाहक[4] अनल से।

१-सूर्य्य। २- अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष। ३-वज्र। ४-जलाने वाला।

४६०—ज्वाल - माल - चूड़ा से विमंडित त्वदीय मौलि
त्रिनयन - वदना सुरों ने पहचाना है।
अष्ट - बाहु - संयुत असीम भीम आकृति की
सूर्य - चन्द्र - रूपी अवलम्ब अनुमाना है।
अपने महान तेज - द्वारा विश्व दीप्त कर
संस्थित अचंचल अशनि[1] के समाना है।
ए री चक्र-धारिणी प्रभा ! स्व-योग-माया-वश
तू तो चक्र - अक्ष - गर्भ - मध्य विद्यमाना है।

४६१—चारों योनियों[2] से परिपूजित सदैव जो कि
वाणी चार भाँति की सुयश - गान गाती है।
वाण - दन्त - नखर - परशु व्यापिनी जो नित्य
ऐसी शक्ति जिसको प्रशंसित बनाती है।
जिसका अगम्य तत्व - बोध नारदादि मुनि–
मंडली प्रणीत करने में घबराती है।
दैवी और मानुषी विपत्ति नाशने में शक्त
कीर्ति चक्रराज की अमर पद पाती है।

४६२—प्रणव - स्वरूप आल - बाल जिसका है दिव्य
कुन्त - खड्ग - वाण आदि पल्लव समान हैं।
किसलय - सदृश अलक्त ज्वाल - माल - युक्त
निःसृत[3] कृशानु - कण कुसुम महान हैं।
छाया मंजु प्रकृति - मधुर सुख दायिनी है,
पाते ताप - हीनता समाश्रित सुजान हैं।
कल्प - वृक्ष - तुल्य देख चंडिके ! तुम्हारा चक्र
शक्र हैं विमुग्ध, सुर पाते बरदान हैं।

१-बिजली। २-अंडज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज। ३-निकलते हुये।

४६३—या तो चंचला ही चाल अपनी विहाय, अंब !
तेज - पुंज होकर अचंचल विराजती।
अथवा समूह[1] राशि द्वादश दिवाकर की
साज प्रलयंकर भयंकर है साजती।
या कि फिर अपनी त्विषा को प्रज्वलित कर
सिंधु - अग्नि प्रबल प्रभा के संग भ्राजती।
यों ही कर शंकित कलंकित सुरारि - झारि[1]
ज्वाला चक्रराज की अखंड - ज्योति राजती।

४६४—घोर गर्जना में लीन सिंह पै सवार देख
नारकी[2] निशुंभ को सुदृश्य खल जाता है।
भृकुटी उदंचित[3] उदग्र[4] लोचनों से युक्त
मौलि को विलोक शुंभ आप जल जाता है।
चंड अस्त्र - शस्त्र वस्त्र रक्त - रंग - वाले लख
धूम्र का तुरन्त भाग्य - सूर्य ढल जाता है।
ख्यात है कि सामने मृतक दैत्य - मंडली है,
ज्ञात न तुम्हारा चक्र कब चल जाता है।

४६५—सव्य - अपसव्य[5] युगबाहु में कठोर घोर
अस्त्र - शस्त्र - संघ मानों आयुध-विपणि[6] है।
शूल है भुशुण्डी शिर परिघ गदा है क्रूर
चाप - बाण, जिनकी निशित[7] अति अणि है।
उज्ज्वल त्रिलोक - जय - घोष - व्यनुनादी शंख
और मंडलाग्र[8] ज्यों कराल काल - फणि है।
संस्थित तुम्हारी तर्जनी पर प्रचंड, चंडि !
चंक्रमित चक्र हेति - चक्र - चूड़ामणि है।

१-समूह। २-नरक-योग्य। ३-चढ़ी हुयी। ४-निकले हुये। ५-दाहिने बाँएँ। ६ बाजार। ७-तेज। ८-तलवार।

४६९—शूल त्याग देता है स्वकीय शील व्याकुल हो
अंकुश निशित निज नोक नष्ट करता।
शक्ति शक्ति - हीन हो अधीन बन जाती द्रुत
कुलिश विहाय वेग व्यर्थ ही विचरता।
होती है अपार धार कुण्ठित कुठार की भी
दंड चंडता - विहीन हो अधैर्य धरता।
चंडि! चंक्रमित चक्र तेरा चल भूतल में
धनु को बनाता तनु[1], चाप - दाप हरता।

४७०—होता है विनष्ट जहाँ सैन्धव - समूह, चंडि!
वारण[2] - वरूथ - अस्थि - दन्त टूट जाते हैं।
रथ लथ - पथ रक्त - नद में निलीन होते
प्रबल पदातियों[3] के शीस फूट जाते हैं।
ऐसे अमरामर - समर में सुरेश जब
होते खिन्न लग - भग प्राण छूट जाते हैं।
चक्र के तुम्हारे चंक्रमित तब आरे चल
कुशल लुटेरों - से विजय लूट जाते हैं।

४७१—भूले पुरुहूत[4] निज पवि का प्रहार, जब
पाशधर[5] पाश भी निराश त्यागने लगे।
खिन्न किन्नरेश[6] निज ज्या के खंड - खंड लख
आह कर अंतक[7] पनाह माँगने लगे।
युद्ध से पलायमान हो गये तुरंग - मुख[8]
और सुर - गायक[9] विपन्न भागने लगे।
देख दैत्य - नाश में प्रवृत्त भवदीय चक्र
सो गये विरंचि - हरि, हर जागने लगे।

१-क्षीण। २-हाथी। ३-पैदल योद्धा। ४-इन्द्र। ५-वरुण। ६-कुबेर। ७-यम। ८-किन्नर। ९-गंधर्व।

४७२—युद्ध देख नंदी[1] नष्ट-प्राय जब होने लगे
गणपति गलित महान म्लान हो गये।
व्याकुल कुमार[2] बार-बार खिन्न-चित्त बने
कुटिल कपाल-लेख देख चंड[3] रो गये।
और जब स्वयमेव शंकर बिपन्न हुये
रण के अरण्य में चकित-चित खो गये।
तेरे चक्र ने ही उन्हें विजय दिलायी, देवि!
तेरे हेति द्वारा ही सदा को शत्रु सो गये।

४७३—देख के अरुणिमा न ज्ञात हो रहा है कुछ
रक्त है कि लोहित कवन्ध, शोण घन है।
जिसको शबल[4] करता है निज चातुरी से
दैत्य-हार, रत्न-राशि, तारों का सदन है।
चंक्रमित हो रहा निरंतर त्विषा[5] से युक्त
चक्र है कि वाडव है अथवा तपन है।
चंड चकाचौंध में न जान पड़ता है, देवि!
युद्ध है, समुद्र है कि संध्या का गगन है।

४७४—चंडि चारु चक्र की भयंकर विशाल चाल
करती कमाल है असुर-असु[6]-लेहिनी।
शुंभ को प्रहारती, निशुंभ को सँहारती है,
रचती विपुल वैरि-वाहिनी विदेहिनी[7]।
अस्थि-अनुरागिनी, पिशित[8]-प्रेमिनी है सदा
रक्त-भक्त अथच बनी है मेद-स्नेहिनी।
गातीं कीर्ति कलित बखानतीं अनूप यश
कनक-गिरीन्द्र की गुफा में सुर-गेहिनी[9]।

१-शंकर के गण। २-स्वामि कार्तिक। ३-शंभु-गण। ४-बहु-रंगी। ५-चमक। ६-प्राण। ७-बिना शरीर वाली। ८-रक्त। ९-स्त्रियाँ।

४७५—बत्तिस कहीं हैं, कहीं सोलह बताते अर
और कहीं आठ प्रथु[1] भुज से कहाते हैं।
देश - काल - भेद से वही हैं पटबाहु होते
कवि पंच - कृति - अनुरूप भी बताते हैं।
यों ही चार भाव तीन भेद से समन्वित हो
जिसके गुणानुवाद ज्ञान - वृद्ध गाते हैं।
दोनों लोक होते चंडि - आयुध - प्रभाव - सिद्ध
एक सर्व - तंत्र मंत्र यंत्र - रूढ़ पाते हैं[2]।

४७६—नाभि में निहित[3] आधि - दैविक समर्थता की
चंक्रमित होती हुयी संस्थिर प्रसक्ति है।
पिंडीभूत होकर सुवृत्त पिंडिका में जो कि
रखती अजस्र प्रति - पिंड - अनुरक्ति है।
और जो समाकर अनूप अर - मंडल में
आभा की अभूत रच देती अभिव्यक्ति है।
नेमि - चक्र - संस्थित विशाल बल-वाहिनी सो
तू है सिंहवाहिनी कि तेरी उग्र शक्ति है।

४७७—कालिमा - कलंकित लसित ज्योति-छाया दिव्य
लालिमा विमंडित प्रखर रवि - गात भी।
अतुल अखंड तेज राशि बन आतप की
साँझ - सी लखाती है असित अवदात भी।
ठहर न पाते हैं प्रसार - प्रतियोगिता में
चन्द्रमा - दिनेश भी, कुमुद - जलजात भी।
तेरे चंड चक्र की प्रचंड मंडलाकृति[4] में
यामिनी भी, वासर भी, संध्या भी, प्रभात भी।

१-मोटा। २-इस छंद में कई तांत्रिक चक्रों का वर्णन है। पुरुषचक्र, प्रकृति चक्र, अहंकार चक्र, काल चक्र, विश्व-चक्र आदि के निर्देश से जगदुत्पत्ति का प्रतिपादन। देखो शाक्त ग्रंथ। पतत्प्रकर्ष दूषण अलंकार-संयोग से भूषण हो गया। ३-छिपी हुयी। ४-गोल आकृति।

४७८—यद्यपि उपस्थित त्वदीय एक हस्त में है
तदपि त्रिलोक - विद्यमान दिखलाता है।
चन्द्र - धाम[1] होकर विराजमान तो भी रुद्र
हेम - कान्ति तदपि असित छबि छाता है।
धारा - सार होकर प्रदीप्त रखता है रुचि
रवि के समान हो स - तारक लखाता है।
विपुल विचित्रता की रंग - भूमि - तुल्य, चंडि !
चक्र चंक्रमित तेज - पुंज प्रकटाता है।

४७९—इन्द्रदेव ! विजय तुम्हारी अति पावन है
धैर्य्य धरो, पावक ! तुम्हारा बार आता है।
काल ! अभी काल न तुम्हारी देव - वंदना का
अवसर रक्षा का न, रक्ष[2] ! दिखलाता है।
वरुण ! तुम्हारी पाद - सेवा फलीभूत रहे,
छोड़ दो, कुबेर ! धन - मद दुख - दाता है।
यों ही यंत्र - पाल दिग - पालों को निदेश देते,
चंडि ! चक्र तेरा एक दूसरा विधाता है।

४८०—आरों पर द्वादश प्रकार के पवित्र मंत्र
व्याहृति[3] के चौबिस प्रतापी अंक सोहते।
शोण अरविन्द के पलाश[4] - तुल्य लोहित हो
नाभि - कर्णिका के अग्नि - अंशु अवरोहते।
अष्टकोण - मध्य आठ शक्तियाँ विराजमान
मूल - मध्य भीम - अक्ष पातक व्यपोहते।
विशद नृसिंह - रूप चक्र को प्रणाम, जिसे
देख चंद्र - शेखर प्रसन्न मन मोहते[5]।

१-तेज। २-राक्षस। ३-गायत्री। ४-पत्र। ५-सुदर्शन-नारसिंह चक्र का वर्णन केवल निर्देश से।

४८१—तारक - प्रसक्त चारु चक्र - अभिरामता की
सीमा रचने को अरुणिम आल - बाल की।
बिखर रहे हैं पृष्ठ - भाग में अशोक - पुष्प
रक्तिमा प्रकट करते जो सांध्य काल की।
देख - देख देव - वृन्द घटिका उपासना की
पूजा करने को जोड़ मंडली विशाल - सी।
कंज - कोष - व्याज बद्ध-अंजली खड़े हैं आज
चक्र-छबि देख पूर्ण - चन्द्र - बिम्ब - जाल-सी।

४८२—कुसुमित विटप - विलास - सी विराजमान
विविध प्रशाखा - युक्त मूल विश्व - प्राण की।
चक्र - अंक युगल विभूतियाँ प्रकाश - युक्त
लेकर निकाय पाश - कुलिश - कृपाण की।
चार भुजा वाली समाकृति दास - रक्षक है,
अष्ट - बाहु विग्रह अवधि जन - त्राण की।
पृष्ठ - भाग - मध्य नर - हरि - रूप सोहता है
अग्र - भाग - मध्य मूर्ति पुरुष पुराण की[२]।

४८३— ाण जब देह से प्रयाण करते हैं, अंब !
ज्योति लोचनों को छोड़ दूर चली जाती है।
होता त्यक्त - सार है शरीर जीव - धारियों का,
मति जब मोह में मलीन दिखलाती है।
मन में नितान्त अंधकार भर जाता जब
वाणी जब प्राणी से न प्रेम प्रकटाती है।
तेरे चक्र - मध्य तब मूर्ति निधनंजय की
संजय दिलाती है, धनंजय[३] लगाती है।

१-त्रिदेव-द्वारा सेवित शक्ति-चक्र का वर्णन। रहस्य। २-सुदर्शन, नृसिंह और यंत्र का एकाकार वर्णन। ३-दिव्य अग्नि।

४८४—विश्व सृष्टि-पालन - प्रलय - भार, अंबिके ! तू
डाल कर जिस पै प्रसन्न हो विहरती।
पुरुष - पुराण - मूर्ति जिसमें समन्वित हो
जंगम - अजंगम[1] प्रजा पै राज्य करती।
देवि - हेतिराज उस चक्र की अनूप गाथा
तीनों ताप सेवक - जनों के सदा हरती।
देती हुयी आयु, लाभ, विजय, पराक्रम भी
भूरि - भाग्य - भाजन - भवन - भूति भरती।

१-चराचर।

इस खंड में कवि ने भगवती की कृपाण का वर्णन १०१ छन्दों में किया है। इस विषय पर प्रायः सभी पुराने कवियों ने कुछ-न-कुछ लिखा ही है। हमारे रीति-काल के कवियों ने भी अपने आश्रय-दाता राजाओं की तलवारों का वर्णन किया है। उर्दू के कवि अनीस और दबीर ने भी अपने मरसियों में तलवार का अनेक प्रकार से चित्रण किया है। उसी विषय को पुनः उद्धृत करके अनूप जी ने इस शतक की रचना की है जो सर्वथा प्रशंसनीय है।

अन्य शतकों की भाँति इसमें भी कवि ने अधिकांश रूपक से सहायता ली है। 'कृपाण' शब्द का प्रयोग कवि ने दोनों लिंगों में किया है। पुल्लिग मानते हुये उसने इन्द्र, बड़वानल, प्रभात, दोपहर, प्रदोष, मंदराचल, वज्र, सर्प, सर्प-फण आदि के रूपकों का आश्रय लिया है तथा स्त्री-लिंग के आधार पर, त्रिवेणी, बार-वधू, काल-रात्रि, मेघ-माला, यमुना, व्योम-गंगा, काल-रसना, नटी, धारा, प्रलय आदि रूपकों के चित्र खींचे हैं। एक स्थान पर कृपाण-वर्णन में भगवान के दश अवतारों को भी दस छन्दों में अवतरित किया है। अन्त में एक विशेषता यह है, उक्त विषय को "कादि-पद-काव्य" में निबद्ध किया गया है अर्थात् 'क' से लेकर 'ज्ञ' तक प्रधान-प्रधान अक्षरों के बाहुल्य पर छन्दों की रचना की गयी है जो अतीव मनोहारिणी है। वास्तव में कृपाण सभी आयुधों में सर्वश्रेष्ठ अस्त्र है तथा भगवती का प्रधान सामिरक भूषण है।

४८५—मुग्ध बन होता अवतरित रणस्थल में
मोहते अराति[1] ऐसी भाँति भर लेता है।
कम्पमान होकर प्रकम्पित बनाता अरि
बन के अधीर धैर्य्य-धुर धर लेता है।
शत-मुख[2] पतित-निशुंभ-शुंभ-शंबर को
छाया में प्रसुप्त जो नितान्त कर लेता है।
शाण[3] से अछूता, अप्रमाण बल-बूता-भरा
आपका कृपाण, अंब! प्राण हर लेता है।

४८६—कोष[4] से निकल कोष-हीन[5] करता है शुंभ
छाँटता गले को काटता है तन-त्राण[6] वह।
करके अराल[7] चाल, धरके अवक्र रूप
वक्र-गति शंबर का शोषता है प्राण वह।
गिरता अनभ्र वज्र-पात-सा निशुंभ पर
अति विकराल काल-चक्र-धरा शाण वह।
रखता भयंकर अपाय[8] दूर किंकर से
शंकर-प्रिया का प्रलयंकर कृपाण[9] वह।

४८७—यद्यपि अनूप ऋजु दण्ड है प्रचंड अति
गहती अराति-प्रति बंकिम प्रणाली को।
छूने में सु-शीतल प्रभाव रखती है, किन्तु
दाहक महान रक्त बीज से कुचाली को।
आती कर-मुष्टि में परन्तु चलते ही द्रुत
होती है अग्राह्य शुंभ से भी बलशाली को।
उद्यत कृपाण[10] चंड-मुण्ड-नाशिनी की वह
उद्यत अजस्र सेवकों की रखवाली को।

१-शत्रु। २-पूर्ण रूप से। ३-शान। ४-मियान। ५-धन-हीन। ६-बख्तर। ७-टढ़ा। ८-विघ्न। ९-इस शतक में कवि ने 'कृपाण' शब्द दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया है। १०-कृपाण शब्द भी दोनों लिंगों में प्रयुक्त किया जाता है।

४८८—छोड़ कर कोष कोष - हीन करती है दैत्य
हाथ में विराज हाथ लाती वैरि - वृन्द है।
चलती स - तेज सूर्य्य - मंडल बनाती हुयी
करती खलों को सूर्य्य - मंडल में बन्द है।
धाराधर तो भी ताप देती चंड - मुण्ड को है
लौह - मयी तो भी कीर्तिचन्द्र से दुचंद है।
माया बनी माया की कृपाण संगरस्थल में
एक बन करती अनेक छल - छन्द है[1]।

४८९—सेवक - सुलोचनों में परम प्रतीति हेतु
प्राकृत पुनीत अंजनाभा प्रकटाती है।
शुंभ को विनाशने में, चण्ड - मुण्ड नाशने में
संयुग[2] - प्रसक्त रक्त - वर्ण बन जाती है।
अंब ! यह उज्ज्वल सुयश सृजने में पटु
अति अवदात[3] छबिवान छत्र छाती है।
तेरी एक - धारा असि, अरि को दुधारा - सम
मुझको त्रिधारा तीन रंग की लखाती है।

४९०—आवरण[4] त्याग जुटती है मार[5] मारने को
देखिये घड़ी ही घड़ी आसन[6] बदलना।
कटि को समेटती है, भुज भर भेंटती है,
उर में ससेटती है, होती अविचल ना।
अंब ! असि तेरी दृष्टिपात में निपातती है
रखती है रंचक विपक्षी - वीर्य - बल ना।
मानों मद - माती काम - कौतुक दिखाती हुयी
केलि - कला करती फिरंगी बार - ललना।

१-विरोधाभास अलंकार। २-युद्ध। ३-उज्ज्वल। ४-वस्त्र अथवा मियान। ५-मारना अथवा कामदेव। ६-स्थिति अथवा ८४ आसन।

४९१—काँपती निकलती कँपाती है निशुंभ को भी
होके रण - रक्त रक्त - युक्त शुंभ करती।
एक ही निपात में पतित कर कैटभ[1] को
एक क्षण, एक - साथ तीन कला धरती।
तंत्र - ज्ञानियों को मोह - मंत्र - सी पढ़ाती हुयी
दृग में निपट निडरों के भी अखरती।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी भूत - बाधा - भरी
करती भटों को भूत[2] युद्ध में बिहरती।

४९२—धूलि - धूसरित आहवीय[3] वायु - मंडल के
अंधकार - मध्य श्याम - रंग अंग करती।
तप्त - सद्य - शोणित - प्रलिप्त अधराधर से
मंडित रदों में मांस - खंड भूरि भरती।
धायी युद्ध - भूमि में भयंकर - स्वरूपिणी हो
भूतनाथ - भामिनी - कृपाणी होश हरती।
चंद्रचूड़ को भी चंद्रहास से रिझाती हुयी
मानों घोर दानवी[4] मसान में बिचरती।

४९३—बिल से निकल चारों ओर युद्ध - कारियों के—
प्राण - धारियों के प्राण बर - बस लेती है।
धायी नील - अंजन - प्रभा का मान मारती-सी
निज बलिदान द्रुत हँस - हँस लेती है।
ऊपर उछट झट भट - मेरु - दंड की भी
दौड़ पंच[5] मुख से जकड़ नस लेती है।
काली की भुजाली विकराली काट वाली यह
काली नागिनी - सी अरियों को डस लेती है।

१-दैत्यों। २-पिशाच अथवा भूत। ३-युद्ध संबंधी। ४-राक्षसी।
५-खुले हुये।

४६४—काम-छवि-धाम स्निग्ध-श्याम अभिराम मंजु
सकल निशाचरों की स्वामिता स - दण्ड ली।
विपुल विशद रस - भार - भृत भीति - धृत
कीर्तिकृत शालिमा[1] अनूपम अखण्ड ली।
बन के सहस्र धार निपतित होती सदा
आज तो गँभीर गति और ही प्रचण्ड ली।
काली को कृपाल स्वयमेव बनी काली है कि
काली यामिनी है या कि काली घन-मण्डली।

४६५—सर्पिणी के सदृश मियान से निकलती है,
बढ़ती है विद्युत - सी, चढ़ती कमान - सी।
गमन - घटी में वक्र किरण - पटी - सी, और
पतन-दशा में इन्द्र - कुलिश[2] - विधान - सी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण की अकथ्य कथा
द्रौपदी के अंबर[3] - समान लम्बमान - सी।
भूमि - भार टारती कलंकी - अवतार - सी है
वसुधा उबारती बराह भगवान - सी।

४६६—ज्योति से जटित यम - दण्ड है अराल[4] या कि
सुरसरि - नीर में निमज्जित स - पुच्छ नक्र।
अथता प्ररोह दैवी शूर - वीरता का यह
होकर त्रिशंकु करती है अरि - पुंज शक्र[5]।
शुंभ को जो शेल, कर-पालिका[6] निशुंभ को है,
चाप चंड - मुण्ड जानता है रक्त बीज चक्र।
उदित हुआ सो अंब ! तेरी कर बाल - मिष
युद्ध - इन्दिरा के कर्ण - फूल का सितारा वक्र।

१-समृद्धि। २-वज्र। ३-चीर। ४-टेढ़ा। ५-त्रिशंकु के डर से इन्द्र भाग गये थे। ६-कृपाण।

४६७—कूल काटती है उच्च - शिखर महीधरों[1] के
मूल काटती है रक्त - बीज - भूमि - शाल[2] की।
चारों ओर रचती कबन्ध[3] ही कबन्ध दौड़
बहती जभी है, रहती न गति ताल[4] की।
सूर्य्य - तनुजा - सी शुभ्र किरण प्रसारती है
ठगिनी अघों[5] की भगिनी है महाकाल की।
ए री मुण्डहारा प्रमथाधिप की दारा! यह
धारा यमुना की है कि तेरी कर बाल की।

४६८—नष्ट करने को रक्त - बीज - काम - धाम मानों
शंकर - त्रितीय - नयनानल - सी चमकी।
भस्म करने को चण्ड - मुण्ड - प्राण - पानय[6] को
लम्ब - रसना हो जठरानल - सी चमकी।
ध्वस्त करने को शत्रु - अस्त्र - शस्त्र - कानन को
प्रबल प्रचंड हो दावानल - सी चमकी।
अंब! तेरी कुटिल कृपाणी क्रान्तिकारिणी है
देख रण - सिंधु बड़वानल - सी चमकी।

४६९—अंब! तव कुटिल कृपाण बहु - रूपी महा
पेट में जरठ - सी, लपेट में तरुण - सी।
युद्ध - धूम - संध्या में अनूप द्वैज - चंद्रमा-सी,
रक्तबीज - जीवन - निशा को है अरुण - सी।
शत्रु - शक्ति - शैल पै प्रहार अभ्र - भेदी[7] कर
होती निपतित है अशनि अकरुण - सी।
जीतने में इन्द्र - सी, विनाशने में काल - सी है,
चाल में कुबेर - सी, कमाल में वरुण - सी।

१-पहाड़। २-यमुना के उद्गम में शाल वृक्ष अधिक हैं। भूमि-शाल अर्थात् संसार को सताने वाला रक्त बीज। ३-जल। ४-बे-ताल अथवा तालाब। ५-पापियों। ६-पानी। ७-बादलों को फाड़ देने वाला।

५००—काल के भी काल की अकालकी[1]-घृणा[2] को आज
तडित - त्वरा की परिखा - सी खाँचते लखा।
भीम - रूप - धारिणी त्रितियनयनानल को
धारा - वाहिनी का रूप - रंग राँचते लखा।
मूर्ति उग्रवेषिणी विभूति - परिवेषिणी से
भूति - भीख भूखे शुंभ को भी जाँचते लखा।
ए री जगदम्ब ! तेरी कुटिल कृपाणी - मिष
मैंने युद्ध - भू में नटराज नाचते लखा।

५०१—घोर कीलालालय[3] निवास करती है यह
राशि बनी चमक - दमक झलामल की।
घेरती प्रचण्ड ज्वलनस्थल अनूप आयी
घन - रस - राशि चली भूभृत अचल की।
शत्रु - मध्य - संस्थित परन्तु है अदम्य तेज
अपनी प्रभा से कवि[4] - प्रतिभा विफल की।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी तेज - धारिणी हो
समर - समुद्र - मध्य वाडव - सी झलकी।

५०२—रक्त - बीज - रूपी शत्रु - भूमि के विदारने को
शोभित - भवानी - कर - हलकी नसी[5] - सी है।
परम सक्त[6] भक्त - भाग्य के उबारने में
समर - समुद्र - मध्य तरणी धँसी - सी है।
लोकातीत प्रबल प्रशस्ति लिखने के लिए
पाटी भोज - पत्र की विपुल विलसी - सी है।
अमर अनी की युद्ध - काम - मति - एकता-सी
युद्ध - वीरता की अतिरेकता[7] लसी - सी है।

१-बिजली। २-करुणा। ३-जलाशय। ४-शुक्र। ५-नोक। ६-लग्न।
७ अतिशयता।

५०३—सातों लोक चौदहो भुवन में अनूप यह
ऋद्धि की समृद्धि की महान वरदानी है।
अति अवदात उग्र मित्र है रणस्थल में
किन्नर अरुष - आननों[1] ने कीर्ति जानी है।
सार्वभौम भूति है समाश्रित इसी के सदा
आशा विजितों की भुवनोत्तर बखानी है।
आपकी मृडानी! यह कुटिल कृपाणी आज
द्रविणाधिनायक कुबेर की प्रतानी[2] है।

५०४—देख पुष्करान्त[3] उसे होता पुष्करान्त[4] वह
छोड़ रज सत्व घन तम - सा लखाता है।
विपुल महीधरों के बाहु - विपिनों को यह
शाखा से शिखा से मूल - तक से ढहाता है।
होकर सवार पृष्ट - भूमि पर भूभृतों के
करता कमाल चाल चंचल दिखाता है।
तेरे मंडलाग्र को विलोक वायु - मंडल में
होड़ वात - चक्र वृथा उससे लगाता है।

५०५—अपनी समर्थता से घोर रण - सागर को
करके विजित निज शासन में लाता है।
संसृति कबन्ध[5] की विरच अवनीतल में
वारण - घटा[6] का मद धूल में मिलाता है।
सकल महीधरों के उच्च शिखरों पै यह
धार पर धार निराधार डाल जाता है।
तेरा चन्द्रहास, अंब! वरुण - स्वरूप रख
मित्रता अजस्र महाकाल[7] से निभाता है।

१-किन्नर। २-कीर्ति। ३ आकाश के अंत तक। ४-मियान से बाहर।
५-रुंड। ६-मंडली। ७-प्रलय।

५०६—कूदी शुंभ - शीस से निशुंभ के गले में पड़ी
मृत्यु की स्वसा[1] हो रक्तबीज पर नाची है।
मज्जा में निमज्जित हुयी है अस्थि काट कर
आज क्रूर कैटभ लहू के रंग राँची है।
करती प्रसन्न काल - रात्रि - देवता को यह
तन्त्र - ज्ञानियों ने इससे ही क्षमा याची है।
अंब तेरी कुटिल कृपाणी दुष्ट दानवी है
घोर राक्षसी है, महापिशुन पिशाची है।

५०७—विपुल विपक्ष - बलाराति[2] बन आहव में
काट उच्च गोत्र[3] अश्म - सार[4]-खंभ-भेदी-सा।
पानी को उतार पानीदार असुरों का यह
दौड़ता है विद्युत - प्रवाह अंभ - भेदी - सा।
अमर - सभा से अभिनंदित अनूप रूप
होकर अपार दानवेन्द्र - दंभ - भेदी - सा।
अंब ! आज असुर - प्रहारी समरस्थल में
तेरा मंडलाग्र राजता है जृंभ - भेदी[5] - सा।

५०८—होती कर्ण - गोचर जभी है शुंभ दानव के
चित्त में लिखाती आधि - व्याधि की रपट[6] है।
होती दृष्टि - गोचर निशुंभ को जभी है यह
करती शरीर शीत द्रुत अकपट है।
पीती है प्रकाम पानी चण्ड - मुण्ड - आयुध का
दुगुनी बनाती तो भी दीप्ति की दपट है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण की झपट, किसी
विपुल विचित्र चित्र - भानु[7] की लपट है।

१-बहिन। २-शत्रु-बल का बैरी। विपक्षी बल नामक दानव का शत्रु अर्थात् इन्द्र। ३-पहाड़। ४-लोहा। ५-इन्द्र। ६-रिपोर्ट। ७-अग्नि।

५०९—आते ही समर में बिछाती अरियों के मुण्ड
लालसा लखाती रक्त - सिंधु में नहाने की।
देख इसे कैटभ, विलोक इसे चण्ड - मुण्ड
होते प्राण - हीन, ऐसी धीर - वीर - बाने की।
कल्प के महान अवसान का दिखाती दृश्य
कुटिल कृतान्ति - सी न व्यर्थ लौट जाने की।
हर की तृषा[1] - सी घोर सरकी रणस्थल में
घर की शिवा के यमराज के घराने की।

५१०—घन श्रुति - हारी[2] महाशंख[3] - से निशुंभ को भी
होती है प्रतीत यह निधन - निधान, अंब !
अमित असीम अति वेग से दलित कर
समर - समुद्र क्षुब्ध रचती महान, अंब !
हो कीलाल[4] - मज्जित अजस्र संचरण - शील
भूरि भूभृतों को भ्रान्ति करती प्रदान, अंब।
विलस रही है रक्त - बीज - रण - सागर में
आपकी कृपाण आदि - मकर - समान, अंब !

५११—नित्य नीर[5] - अंतर निवास करने से स्निग्ध
करती निरन्तर जँबाल[6] में विहार - सी।
गिरती समुन्नत धराधरेन्द्र - शीस पर
स - रव स - घोष घोर विद्युत - प्रहार - सी।
चरम कठिनता की अचरम - सीमा - सम
विग्रही[7] महान हरती है भूमि - भार - सी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण युद्ध - सिंधु - मध्य
विलस रही है आदि - कच्छपावतार - सी।

१-प्यास। २-कान या वेद को हरण करने वाला। ३-मूर्ख। ४-जल।
५-जल अथवा नीड़ (घोसला)। ६-युद्ध या जल। ७-पृथुलकाय। लड़ाकू।

५१२—निकल पड़ी है दिव्य ज्योति प्रकटाती हुयी
चारों ओर किरण - कलाप - सी प्रसरती।
फूली देह प्रकट पृथुल[1] पुलकावलि से
क्रोध में सुरारि के भी ऊपर उभरती।
होती है निमग्न दैत्य - सैन्य के पयोनिधि में
आनन के व्यान[2] युद्ध - इन्दिरा भी डरती।
आपकी कृपाण अंब! वसुधा उधारने में
आदिम बराह का चरित्र अनुकरती[3]।

५१३—वक्र कर से भी, नख से भी मुख से भी यह
उदर विदारती है, कण्ठ में लपटती।
सिंह की सटा - सी पिंग[4] परिधि प्रसारती है,
दुष्ट दैत्यराज को चुड़ैल - सी चपटती।
अंब! तेरी कुटिल कृपाण चलती है मानों
रक्त - धार - मध्य काल - रसना रपटती।
पेखी गयी कोष में विनत प्रह्लाद - सी है
देखी गयी रण में नृसिंह - सी झपटती।

५१४—एक ही छलाँग मार शुंभ नाप लेती और
दूसरी फलाँग में निशुंभ हर लेती है।
कैटभ को आधी ही उछाल में सँहारती है,
सारे समरस्थल की नाप कर लेती है।
दैन्य[5] से न होती अभिभूत[6] कभी भूल से भी
माया महिमा को द्रुत कर सर[7] लेती है।
कुरसा कृपाण तेरी सुरसा - समान, अंब!
वामन - स्वरूप को विराट कर लेती है।

१-मोटी। २-खोलना। ३-अनुकरण करती। ४-पीली। ५-दीनता। ६-विजित। ७-जित।

५१५—उसने किया है क्षात्र - वंश ध्वंस आहव में
इसने असार दैत्य - जाति कर डाली है।
उसने सहस्र बाहु काटे नर - नायकों के
इसने असंख्य अनी[१] खण्ड - खण्ड घाली है।
उसने कराल एक काल को रिझाया, किन्तु
इससे प्रसन्न महाकाल महाकाली है।
अंब ! तेरी कठिन कुठार याम दग्न्य से भी
अधिक बड़ी है, अत्यधिक बलशाली है।

५१६—राजती सुबाहु में सदैव शत्रुहन्ता बनी
भ्राजती है मेघ - नाद कैटभ - विदारिका।
करती अजस्र विश्वामित्र[२] - अपमान घोर
शुंभ से अशंकर[३] जनों की मद - हारिका।
होके एक - आनन सवार पंचानन पर
शोभती है दश दिशि आनन - प्रसारिका।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी यातुधान - मध्य
रचती है रूपक विचित्र रावणारि का।

५१७—शोभित अनूप स्निग्ध श्याम अभिराम द्युति
मुष्टिक[४] - निबद्ध - कर कौतुक दिखाती है।
अघ[५] हरती है बल[६] - बंधुता निभाती नित्य
बाण[७] को विनष्ट कर अति सुख पाती है।
अरि मधु[८] की है द्विज - गोप की सुहृद यह
घोर महा - भारत[९] रचाती दृष्टि आती है।
आपकी कृपाण चक्र पाणि से बनाती, अंब !
या कि स्वयमेव चक्रपाणि बन जाती है।

१-सेना। २-संसार के शत्रु। ३-शंकर के विपक्षी अथवा अकल्याण करने वाले। ४-एक राक्षस। मुट्ठी। ५-दानव। ६-बलराम या शक्ति। ७-एक दानव या तीर। ८-एक राक्षस। ९-कोई भीषण युद्ध।

५१८—नम्र नारी - बालक - विमुख चलती ही नहीं
छात्र - धर्म चक्र - गति रखती महान है।
करती सदा ही काम शत्रु को विपक्ष दक्ष
रचती त्रिलोकातीत विभव - विधान है।
सत्व - तेज - प्रभव[1] - प्रकाशमान आनन से
प्रधन[2] - धरा को कर देती कान्तिमान है।
अरुणाभ कर - कमलासन विराजी हुयी
आपकी कृपाण है कि बुद्ध भगवान है।

५१९—सँम्हल[3] प्रकट होती द्विज[4] - सी पिधान से है,
स - रभस करती अधर्म - सिंधु पार - सी।
हरि[5] पै सवार दौड़ती है समरस्थल में
चलती नवीन युद्ध - युग के प्रचार - सी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण अति भीषण हो
लोहू से लिपट के बनी है रक्त - धार - सी।
म्लेच्छ - भूप मारती, निशाचर सँहारती है,
अचला उधारती, कलंकी अवतार - सी।

५२०—ग्रहण जिसे न कर सकतीं कदापि कोई
चय सुभटों की या निचय यातुधान की।
शोणित से या कि अग्नि-वर्ण से हुयी है लाल,
काल - चाल-मर्दिनी विशाल आन - बान की।
होती महातैल[6] - से प्रसिक्त ज्वाल-जाल-सी है
चोटी दाहती है राक्षसेन्द्र - सानुमान[7] की।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी समरांगण में
मूँछ सिंह की है या कि पूँछ हनुमान की।

१-उपन्न। प्रभाव। २-युद्ध। ३-संभल। ४-चन्द्रमा। ५-घोड़ा।
६-चर्बी या तैल। ७-पर्वत।

५२१—जब असुरों के चरणों से उठी धूल उड़
रोदसी[1] में घोर अंधकार भर देती है।
और जब दुष्ट दनुजों के शिरोभूषणों की
रत्न - राशि तारकों की छबि हर देती है।
मूक पक्षियों को नेत्र - मीलित विपक्षियों को
करती अचेत प्राणियों को डर देती है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी व्योम - गंगा बन
तब रण - भूमि को निशीथ[2] कर देती है।

५२२—देख रत्न - जटित समाकृति[3] सुरम्य मंजु
उदय असंख्य तारकों का जान लेता हूँ।
शत्रु - भाग्य - दिवसावसान करने में इसे
चरमाचलस्थ ज्योति अनुमान लेता हूँ।
क्रूर काल - रात्रि के विशाल व्यत्त[4] आनन-सा
कुटिल कठोरता का ध्यान ठान लेता हूँ।
अंबिके ! तुम्हारे चन्द्र-हास[5] के गुणों को लख
दोष नहीं मेरा जो प्रदोष मान लेता हूँ।

५२५—रोदसी में उत्थित निशुंभ - शुंभ काट कर
अमित अरुण धारा - धर[6] बन जाती है।
नीचे उतरी तो चण्ड-मुण्ड आदिकों के प्राण—
वायु को समीर - सी अनन्त में बहाती है।
भूमि पर आते कैटभादि भूमि देख जाते
संपुटित दैत्य - नेत्र - कमल बनाती है।
अंब तेरी संध्या - सी त्रिरंग करबाल, कहो
किससे न अपनी उपासना कराती है।

१-पृथ्वी-आकाश का अंतराल। २-अर्ध-रात्रि। ३-मूर्ति। ४-खुले हुये। ५-तलवार। ६-मेघ।

५२४—काट चण्ड - मुण्ड की, तथैव रक्त-बीज की भी
छाया को महान शून्यतर कर देता है।
गिरती प्रचंड ताप शीस पर कैटभ के
भीति - स्वेद दानवों को तर कर देता है।
देखते ही हाँपते शयालु[1] महिषादिक हैं,
सकल शरीर थर - थर कर देता है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी का प्रवाह, वाह !
एक ही घड़ी को दोपहर कर देता है।

५२५—निपट निशाग्नित[2] महिष - शिर - भेद कर
पूर्ण प्रकटाती अरुणोदय घमंड कर।
नाशती प्रबल रिपु - बल के तमिस्र को भी
करती अनूप सुहृदुदय प्रचंड - कर[3]।
रक्त - धार - मध्य रक्त - कमल - समान मुण्ड
रचती विपक्ष - वाहिनी को बरिबंड[4] कर।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी आज प्रात से ही
प्रात को बिछाती युद्ध - भू में खंड - खंड कर।

५२६—भूमि में निशुंभ - शुंभ - ईंधन को भक्ष कर
प्रबल - प्रताप - पुरोडाश[5] की लपट है।
रोदसी में रिपु - वधुओं की अश्रु - धारा - मयी
घन की घटा में तडिता की - सी डपट है।
और भासमान आसमान में प्रभाकर की
रश्मि - सी अलक्ष्य द्रुत भरती रपट[6] है।
नाना रंग नाना रूप रचती रणस्थल में
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण की झपट है।

१-सोने के इच्छुक। २-रात्रि के समान काला। ३-सूर्य्य। ४-भयानक।
५-अग्नि। ६-दौड़।

५२७—मध्य में विराजती सघन घन नीलिमा की
सुषमा - समृद्धि की अनूप बलिहारी है।
द्विपद - समूह की द्विरद - घटना को काट
रक्त - रंग - रंजित अलक्त छबि - धारी है।
धूप - छाँह - वसन - समान रखती है राग
तरल - तरंग - संग विग्रह[1] - विहारी है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाणी युद्ध - इन्दिरा की
सारी की किनारी सौख्य - सारी चित्तहारी है।

५२८—यद्यपि मृडानि[2] - मुष्टि - मध्य बसती है तो भी
त्रिभुवन - विवर - निवासिनी लखाती है।
भाम - काय तो भी पात्र विश्व के मनोरथों की
संस्थिर - किरण भ्रान्ति - शील बन जाती है।
यद्यपि अनूप स्निग्ध - श्याम अभिराम द्युति
तो भी पूर्ण चन्द्र - सी समुज्वल दिखाती है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी जयशील नित्य
नाना भाँति सुयश विचित्र प्रकटाती है।

५२९—सकल सुरासुर - समूह - संपदा को द्रुत
करती विलग नवनीत के समान है।
रंभा - सम निकल युवक हृदयों को काट
वारुणी - सी विपुल कँपाती यातुधान है।
नाग - नृप - तुरग उबारती अतल[3] से भी
होती बाहु - दंड - अवधूत वेगवान है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण युद्ध - वारिधि के
मंथन में तुङ्ग मंदराचल महान है।

१-शरीर या युद्ध। २-पार्वती। ३-पृथ्वी के नीचे।

५३०—हो के तुङ्ग - वेलित रसाधिगम्य रोदसी में
अतल - वितल नर - रत्न भरती हुयी।
नीलानील द्युति से दिगन्त चमकाती हुयी
भूमि में कवन्ध ही कवन्ध भरती हुयी।
मृदित - निशुंभ - शुंभ - नारी - नेत्र - धारा - धर
अधर - दरी से सब ओर ढरती हुयी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी चलती है घोर
युद्ध - नीर - नाथ[1] को अनाथ करती हुयी।

५३१—श्यामल निशुंभ नील कैटभ के शीस पर
नील - मणि - गुच्छ-सी स-पुच्छ फहराती है।
शुंभ के असित - चरमाचल - शरीर पर
चौथ - चंद्रमा की चंद्रिका - सी छहराती है।
सारे यातुधानों के समुन्नत किरीट पर
कलँगी समान अविराम लहराती है।
अंब ! असि तेरी हहराती रक्त - बीज को भी
धूम्र भहराती[2] चण्ड - मुण्ड थहराती है।

५३२—अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी महा आतुर हो
रोष - भरी कोष से निकल जब आती है।
दीपक - शिखा - सी देख शलभ - समान द्रुत
घोर दैत्य - मंडली स - वेग समुहाती है।
इधर - उधर चल तितर - बितर कर
वायुयान - संस्थित सुरों को यों लखाती है।
आते हुये सैनिकों के सिर पर कलँगी - सी
भागते हुओं के वेणी[3] - सम बन जाती है।

१-समुद्र। २-फाड़ती। ३-चोटी।

५३३—सृष्टि से भी अधिक पुराने लौह की हैं बनी
अस्थियों का सार या कि लोमिन[1] कराल की।
अस्फुटित होता है पुलक बार - बार, ऐसी
होती कंपमान गति विद्युत विशाल की।
अथवा अकाल काल की है सूचिका ही नहीं,
नभ में उछाल की, तो महि में कमाल की।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण दुष्ट दानवों को
तर्जती हुयी - सी तर्जनी है महाकाल की।

५३४—विन्ध्य - सम उठते कराल रक्त - बीज को जो
दाबती अगस्त्य के अँगूठा बलवान - सी।
दान - वारि - निःसृत - निशुंभ-गलगंड को जो
करती अलक्त रक्त - रंजित - विधान - सी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण चण्ड - मुण्ड की भी
मीलित बनाती आँख रहित - अपान - सी।
धूम्र - शिर कूटती है अशनि - समान, और
शुंभ पर टूटती इरम्मद[2] महान - सी।

५३५—कोष से निकल होश हरती पलाशियों[3] के
करती स - वेग रवि - मंडल पै दावा - सी।
रक्त - शोण कोण तीव्र चंचु के समान कर
काटती कराल व्योम - मंडल में कावा - सी।
डोलती स्वतंत्र भीति - हीन समरांगण में
बोलती स - कंप शत्रु - मंडल पै धावा - सी।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी नील - पिच्छ - सम
घाती श्येन[4] - सदृश बनाती शुंभ लावा सी।

१-लोमिन की अस्थियों से लोहे की उत्पत्ति मानी गयी है। २ वज्र।
३-शचान। ४-बाज।

५३६—अंव ! तेरी कठिन कृपाणी की विलोक गति
मति - अनुरूप नव्य उपमा विचारी है।
अति चमकीली स्निग्ध दानव - वसा से युक्त
कुन्तल - समूह कुन्त - यूथ - छबि भारी है।
तुङ्ग विन्ध्य - सदृश गजेन्द्र - गंड - मंडली का
शोणित - सिंदूर रच करती तयारी है।
मानों सती[1] - सम्मुख सती की गति माँगने को
दैत्य - इन्दिरा ने माँग अपनी सँवारी है।

५३७—अंव ! तेरी कठिन कृपाणी अति लाघव से
आतुर हो कोप से निकल जब आती है।
शिर पर अपने समस्त दैत्य - मंडली तो
कर - कमलों का कोश - संपुट बनाती है।
एक - ही प्रहार में अनेक असुरों की राशि
तन्दुल - तुषा - सी दस कोस उड़ जाती है।
दानव - समाज - अधिराज - शुंभ - राज - साज—
संपति समस्त कोप - रहित लखाती है।

५३८—बजते पटह - मुरचंग शृंग - झल्लरी के
असुर - समूह अंग कंप भर लेता है।
शुंभ स्वेद - संयुत, निशुंभ अश्रु - युक्त, और
रक्त - बीज देह पे विवर्ण धर लेता है।
चण्ड मुण्ड पुलक - समेत, स्वर - भङ्ग धूम्र
और महिषासुर प्रलय वर लेता है।
रसिक - शिरोमणि दुधारा भवदीय, अंब !
त्वरित विवाहित विजय कर लेता है[4]।

१-सर्बो। २-पार्वती। ३-भूसी। ४-सभी सात्विक भावों का समावेश किया गया है।

२३९—रचती अभी तू द्वन्द्व - युद्ध[1] समरांगण में
होकर स्वतंत्र खेलती है शत्रु - शालिका।
कल्प - तरु - सुमन - समूह बरसातीं तब
अमरांगणाएँ चढ़ गगन - अटालिका।
सकल अदेवों को बनाती देव - तुल्य - द्रुत
चण्ड - मुण्ड - वंश - रक्त - बीज - कुल-पालिका।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण दैत्य - मंडली में
बिलस रही है काल - रात्रि की सी बालिका।

२४०—शुंभ-मुख, रक्त - बीज - आनन, निशुंभ वक्र
चण्ड मुण्ड - वदन,—सभी में ध्वंस भरती।
यातुधान - समर - मही में अति आकुल हो
तप्त सद्य - शोणित - तडाग पान करती।
फेंकती अजस्र शत्रु - सुयश गँडूष[2] - मिष
शेष - भोग[3] - मंडली विलोक शोक धरती।
अंब ! तेरी कठिन कृपाणी समरांगण में
घोर काल - रसना - समान है प्रसरती।

२४१—रहती सदा ही है सघन छायावान तो भी
ईति - भीति - जनित - विपत्ति - विरता-सी है।
रक्तबीज - रक्त से हुयी है सिक्त तो भी यह
अक्ष[4] के समान रुक्ष - भाव - विवृता-सी है।
प्रबल प्रभंजन - प्रभाव भी डिगा न सका
ऐसी दृढ़ जड़ की रसातल - गता - सी है।
अंब ! तेरी दैत्य - दल - हारी करपालिका तो
युद्ध - अंतरीप में तमाल की लता - सी है।

१-केवल महिष के साथ। २-कुल्ला। ३-फण। ४-रुद्राक्ष।

५४२—अमित उमंग से अभंग रंग धारती है
करती प्रचारित विभीति[1] रिपुगण में।
शुंभ की निशुंभ की उदान प्राण - वायु भक्षु
तप्त हो हो करती प्रतप्त धूम्र क्षण में।
चंड - मुंड के भी काल खंड का अलक्त मांस
माणिक - समान सोहता है मंजु फण[2] में।
अंब ! असि तेरी तेरे सुभुज - भुजंगम के
भोग[2] - सी अजस्र झूमती है दैत्य - रण में।

५४३—हाथ में तुम्हारे कंप - हीन रहता है जब,
छीनता मुकुट यातुधान सिरताज का।
त्रिजग - अपूर्व पूर्व - संचित सुयश को भी
द्रुत हर लेता मान सुभट - समाज का।
भीति - प्रतिकूल हो समस्त साहसों का मूल
चंड - मुंड को भी मुंड करता अजाज[3] का।
अंब ! तेरे कठिन कुठार मिष कौतुक से
खेलता समर में कुमार यमराज का।

५४४—वेग से प्रभंजन के कंपमान होती नहीं,
और न कदापि धाराधर[4] में समाती है।
हेतु अपने ही साध्य होती अति ओज - भरी
मन में अपर पर - विषय न लाती है।
यद्यपि नयन - पथ - गामिनी, परन्तु यह
अश्रु न गिराती छिन्न - मूल न कहाती है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी समरानल के
धूम की शिखा - सी आसमान तक जाती है।

१-डर । २-फन । ३-बकरा । ४-मेघ ।

५४५—यद्यपि अनूप अद्वितीय प्रभुता से भरी
रण में असंख्य गति - गरिमा दिखाती है।
शुंभ को प्रचंड - सी, भयंकर - सी धूम्र को भी
कुटिल कराल - सी निशुंभ को लखाती है।
सकल निशाचरों के हृदय - पिधान - मध्य
कोष छोड़ एक - साथ आसन जमाती है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाणी है विचित्र ऐसी
एक होके क्षण में अनेक बन जाती है।[1]

५४६—विपुल विमुग्ध व्योम - मध्य कतराती हुयी
कतर रही है प्रौढ़ अंधकार - काया - सी।
प्रसर दिशा में विदिशा में अति आनँद से
वितर रही है चारों ओर निज माया - सी।
निपुण कला में चाल चलती तडित की - सी
शुंभ - कंठ - मध्य लगती है प्रेत - काया - सी।
हुलस रही है अंग - अंग असि अंब ! तेरी
विलस रही है रण - रंगजीव[2] - जाया - सी।

५४७—अंब ! तेरे सुभुज - भुजंग - संग वाली यह
सर्पिणी कृपाणी युद्ध - रति में उपेती - सी।
मद्य कटे शुंभ से प्रवाहित रुधिर - व्याज
होकर रजोवती प्रकाम सुख लेती - सी।
दर्प - युक्त दान - वारि - सिक्त गज - शुंडादंड[3]
गंड[4]-शैल-मध्य यों प्रसूति - फल - देती - सी।
देखी गयी फैली चारों ओर समरांगण में
अंड-व्याज श्वेत यश - कण - गण सेती - सी।

१-उल्लेख अलंकार। २-नट। ३-सूँड। ४-कपोल

५४८—होके अति आतुर सुरासुर - समर - भूमि
सिंह ने स्व - नख से खनित कर डाली है।
बरस प्रकाम रक्तबीज - रक्त - धार - वारि
किंचित न छोड़ी सभी सिंचित बना ली है।
मंजु मौक्तिकों ने करि - कुंभ से निकल कर
जिसमें स - मुद सुमनावलि लगा ली है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण - वल्लरी का फल
सरस, सुस्वादु, सुर - विजय - बहाली[1] है।

५४९—अंब ! असि तेरे कर - कंज - कोष से हो व्यक्त
चलती जभी है मत्त - मधुकर - माज़ा - सी।
ज्ञात होती घोर विधवात्व - धूमकेतु - शिखा
धूम्र - भामिनी को क्रूर कुटिल कराला - सी।
काल - कामिनी की वेणी भासती निशुंभ को है
शुंभ को प्रताप की प्रदीप्त वह्नि - ज्वाला - सी।
अंतक[2] - भुजंग - सी लखाती चंडमुंड को भी
लम्ब लोल - रसना प्रसिक्त मोह - हाला - सी।

५५०—दैत्याकार भूभृत - गणों को कंठ - हार कर
उमड़ - घुमड़ वेगवान बन जाता है।
और रक्तबीज - चंडमुंड - पुञ्ज - पंकजों को
धारा से स्वकीय अंतकाल नहलाता है।
युद्ध - क्रुद्ध - सिंधुर[3] - समूह - गंड - मंडली के
मौक्तिक करक[4] - व्याज भूमि पै गिराता है।
यों ही, अंब ! आपका कृपाण समरांगण में
पूरित - प्रवाह प्रलयाम्बु बरसाता है।

१-समृद्धि। २-यम(-रूपी-सर्प)। ३-हाथी। ४-ओला।

५५१—पानीदार आपके कृपाण का विशिष्ट वारि
विधि भी बखान करने में सकुचाता है।
सुयश त्रिलोक - शुक्ति - मौक्तिक समान, अंब !
क्षाम क्षणदाकर की छबि प्रकटाता है।
शुंभ - कच - शैवल[1] - समान मान संगर में
राज - हंस - सदृश स्वरूप दिखलाता है।
वेणी-मध्य दैत्य - अधिराज - राज - इन्दिरा की
हीरक - समूह - सा धवल दृष्टि आता है

५५२—शुंभ - यश - पयस पयोधि - पूर्ण पीकर भी
करती वमन विष, अंब ! अविराम असि।
रचती स्व - कोष - विवरागत असित छबि
रण - यज्ञ - कर्म - मर्म - विज्ञ वसु-याम असि।
शारदिन्दु - धवल विरुद्ध प्रकटाती नित्य
यद्यपि तमाल-नील शक्ति - शील - धाम असि।
जयति त्रिलोक - मंडलेन्द्र - कुण्डलीन्द्र इव
जयति जयति चूडापीड[2] - अभिराम असि।

५५३—केतु काट, कुंभ काट करिका, कटक काट
घोटक - कदम्ब[3] काट रचता रसा को शोण।
कुण्ठित बनाता कीर्ति धूम्रकेश आदिक की
होते हैं प्रसन्न - चित्त क्रूर वृक, काक, द्रोण[4]।
उच्चक करोड़ कला करती पलक में ही
रोते हैं विनत मुंड होते हैं समुच्च घोण[5]।
करता कलम द्रुत कौणप[6] - कलाप को है,
शोणित कणों से कीर्ण, कालिके ! कृपाण कोण[7]।

१-सिबार (पानी की हरा घास)। २-सर्वाङ्ग। ३-समूह। ४-शृगाल
५-नथुने। ६-दैत्य। ७-यहाँ से "कादि-पद-काव्य" प्रारम्भ होता है।

५५४—खेलते खमंडल में रवि के मयूख, उन्हें
खंडित बनाने में खरांशु छाँटने में है।
खेला - संख्य[1] - मध्य खंज[2] करता निशुंभ-शुंभ
व्यस्त मुंड - झुंड - खलियान पाटने में है।
ख्यात सौख्य-खनि अग्निमुख[3] - मंडली का पटु
खून खननाहट - समेत चाटने में है।
अंब ! तेरा प्रबल - प्रचंड खल खर्व खऊ
प्रखर अयोमुख[4] - विशिख काटने में है।

५५५—गैरिक - गिरीन्द्र - सा गिरता शोणितात्क धूम्र
भू की गोद गेंद - सा निशुंभ - मुंड गेरा है।
छूते स्वर्ग - मार्ग को गमन करता है शुंभ
देख गर्व हो गया गभस्ति - ग्राम[5] चेरा है।
चंडमुंड का भी मुंड - गूदा बगराता द्रुत
रक्तबीज गाजर - सा काटता घनेरा है।
गर्जना - समेत अग्रगामी सुभटों के गण
निगल रहा यों मंडलाग्र, अंब ! तेरा है।

५५६—घुन के समान घोट देती है पलाशियों को
पल से वसा से घड़ी एक न घिनाती है।
घंटी काट, घूँघुरू निपाट, घोड़े छाँट कर
सघन गजों की घटा घृणित बनाती है।
गिर पड़ते हैं अघ[6] - ओघ घुटनों के बल
विज्जु की छटा - सी घन में ज्यों घहराती है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण घर[7] छोड़ कर
घोर घमासान घुस रण में मचाती है।

१-सेना । २-पद-हीन । ३-देवता । ४-दानव । ५-किरण-समूह । ६-पापी ।
७-मियान ।

५५७—चंड चंडीपति के विषम चक्षु की है अर्चि[1]
देख दानवों में चकाचौंध मच जाता है।
सहज - चपल चाल चलती निशुंभ की न
शुंभ चूकता है, धूम्र चसता[2] लखाता है।
चिढ़ चुप चीख मार भागे रजनीचरों की
चाट चरबी को चूस चटनी बनाता है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण को अचूक जान
चंडमुंड - चित्त चकता है, चकराता है।

५५८—छत्र काट शुंभ का, निशुंभ की छड़ी को काट
छाते फाड़ देती दौड़ दिति के तनुज के।
चंडमुंड - शोणित छलक पड़ता है द्रुत
चारों ओर बुन्द छटकाती धूम्र - भुज के।
छबि छहराती अमिताभ क्षिति - मंडल में
रक्तबीज - रक्त की अलक्त सम कुज[3] के।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण छेदती है अरि
छीपी के समान छीप छादन[4] दनुज के।

५५९—भुज - से भुजंग की प्रलंब जीभ - सी है यह
जव से जमात मनुजात की हराती है।
गज - रद - भंजन जवन[5] की प्रभञ्जन हो
खंजन - सी चंचल अचल विचलाती है।
होके जात - ज्वाल यों जटिल रखती है रूप
ज्योति निज जाहिर जहान में दिखाती है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण जङ्ग जीतने को
दैत्य - जन्तु - जाति को ज्वराहत[6] बनाती है।

१-किरण। २-दबकता। ३-मंगल तारा। ४-कपड़े। ५-घोड़ा।
६-ताप-युक्त।

५६०—शुंभ को झकोरती, झिड़कती निशुंभ को भी
झूम धूम्र का शिर झटिति फाड़ देती है।
झंझा के समान झन - झन है झकोरती तो
रक्तवीज को भी झमझकार ताड़ देती है।
झक धरतो है झखकेतु - अरि प्रेयसी जो
झट झटकार अरि को लताड़ देती है।
अंब! तेरी कुटिल कृपाण की झणतकार
उज्झित - अनीक - विग्रही[1] को झाड़ देती है।

५६१—टंकृति विकट चाप - यष्टियों की काटती है
शुंभ - कूट को भी कूट कर पिघलाती है।
प्रतिभट[2] - सुभट विनष्ट कर देती सदा
अरि - अचलों पै टाँकी - सदृश लखाती है।
रट रखती है झट पट्टिश विदारने की
टिकती न विकट इरम्मद[3] हराती है।
अंब! तेरी कुटिल कृपाणी दृढ़ टेक वाली
कोटि - संख्य सेना से अकेली टकराती है।

५६२—शुंडियों के कंठ पै ठहाका करता है दौड़
अश्व की कठोर पीठ कर पार देता है।
ढीले लम्ब - ओष्ठ महा पृष्ट के बिदारता है
ठिठुरे निशुंभ को वहीं प्रहार देता है।
ठंढा करता है रक्त - बीज शठ को भी द्रुत
चंड - मुंड - पृष्ठ क्षण में विदार देता है।
अंब! तेरा कठिन कुठार समरांगण में
ठीक ठान[4] ठान शठ शुंभ मार देता है।

१-उलझी हुयी सेना लेकर रण करने वाले महिषासुर को। २-बैरी।
३-बज्र। ४-धुन।

५६३—धरता प्रचंड रूप डिंभ दंड - नायक का
क्ष्वेड कुण्डलीन्द्र का विलोक बोल जाता है।
चंड शुंडियों का है निगड़ बड़भागी यह
काट के गले को रक्त भाँड़ ढोल जाता है।
विपुल वितुण्ड शुण्ड काँड खंड - खंड कर,
दोर - दंड काट, खोपड़ी को खोल जाता है।
डेढ़हा[1] - फणी - सा अंब ! तेरा मंडलाग्र देख
डग - मग होके शुंभ - डग डोल जाता है।

५६४—चंड - मुंड ढक्का की ढकार पै निरूढ़ बन
ढोल - ढफ - मिष लड़ने की हाँक देती है।
ढाड़ मार रोती शुंभ - शक्ति समरांगण में
धूम्र - ढाल को भी कर चार आँक[2] देती है।
गूढ़ हास - गाढ़ में निशुंभ को ढकेलती है,
अशकल[3] दैत्य - षण्ढता[4] में फाँक देती है।
ढीले पड़ जाते ढल जाते शत्रु - साहस को
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण ढाँक देती है।

५६५—रण - यम बालक का पाणि यह ओज - युक्त,
शुंभ के विषाण - बाण से न कभी डरती।
सम्मुख अयालाकर पाते हैं न वैरि - वृन्द
जब तन - त्राण काटने की धुन धरती।
होकर अरुण - रुचि, शोणित के रंग रँगी,
रवि की किरण - श्रोणि[5] शाण पै विचरती।
तीक्ष्ण तेरी, अंबिके ! कृपाण समरांगण में
दैत्य - अप्रमाण[6] वारणों के प्राण हरती।

१-दुमुँहा। २-अंग (हिस्सा)। ३-पूर्ण। ४-तीक्षणता। ५-किरण के समान लाल। ६-दैत्यों से भी न गिने जाने योग्य।

५६६—दन्ती से तमीचर दितिज उतराते जहाँ
पंक्ति से तुरंग की तरंग हिय हारती।
चंडमुंड - आदिक तिमिंगल से तैरते हैं
कुन्त की निकाय[1] भी सिवार - मान मारती।
तरकश - तोप - तुरही हैं तरणी - सी जहाँ
तुंग - केतु पोत की पताका छवि धारती।
डाँड हो तमाल की लता - सी तलवार तेरी
ऐसे रण - तोयधि के पार है उतारती।

५६७—बनते ही नेत्र में अतिथि परिपंथियों के
स्थूल - भाव - संयुत प्रमथ लगे हाँपने।
वेपथु[2] से व्यर्थ शस्त्र होते थके दानवों के
थूथन[3] उठाके लगे मृत्यु - पथ नापने।
सारथी - समेत रथ थरहरते हैं लख
थोड़ी देर भी न हाथ से हैं शस्त्र चापते।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण देख शुक्र - शिष्य
स्थैर्य छोड़, शक्ति व्यर्थ जान, लगे काँपने।

५६८—यह दर्प-युक्त काल - कूट - द्रुम - दल - सी है,
द्वेष - दग्ध - दानव - हृदय दहलाती है।
दीर्घ-दान-लेखा-तुल्य दीर्घ - दन्तावल[5] की है
देह दर - दलित मुकुट की लजाती है।
दृष्टि में निदाध - दिन - मणि - द्युति-सी अदृष्ट
दौड़ देख विद्युत - दहाड़ दैन्य लाती है।
दुष्ट - दल - दलनि ! दुराक्रम कृपाण तेरी
दिग, दिग - देव, दिग - द्विरद हिलाती है।

१-सिवार। २-कंपन। ३-नथने। ४-दैत्य। ५-हाथी।

५७२—कोष से निकल फैलती है फून - बेलि - सी जो
फील[1] के गले में यम - फंद बन जाती है।
फूट[2] के समान फाड़ देती शुंभ - खोपड़ी है
फाल मार राम - फरसा - सी हन जाती है।
फेंकती निशुंभ, फाँसती है धूम्र धूम कर
एक ही फलाँग ले के फाँद घन जाती है।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाण शत्रु - शोणित में
फड़क - फड़क फिर - फिर सन जाती है।

५७३—बाहु - बल को जो बेधता है बखतर बाण
बरछी बँदूक बहु भाँति से विदारता।
विदलित बहुल प्रबल - बल बैरियों के
अबलाजनों का बाष्प - अंबु[3] है प्रसारता।
बिम्ब बिजली का व्यर्थ होता प्रतिबिम्ब देख
बीज बसुधाम्बर में सिद्धि के बगारता।
क्रुद्ध युद्ध - भूमि में कुठार भवदीय, अंब !
धूम्र को हराता, रक्तबीज को सँहारता।

५७४—भूमि भासमान - मध्य भास्वत गभस्तियों[4] के
भार से विभूत भव्य विभव दिखाता है।
अभ्र[5] - अंतराल अभिभूत कर भूरि - भूरि
दैत्य - भूभृतों को भी अभैरव[6] बनाता है।
भ्रम - भय - भीत देख भागते भुजंग सारे
कुंभियों[7] का रक्त भत भासुर[8] लखाता है।
अहह ! भवानि ! तेरा कुटिल कुठार आज
फूँक से खलों का भाग्य - भूधर भगाता है।

१-हाथी। २-ककड़ी जो फूट जाती है जबकि पकती है। ३-जल (आँसू)। ४ किरण। ५-बादल। ६-भयंकरता से हीन। ७-हाथी। ८-एक दानव। उसके तुल्य।

५७५—मत्त मेदिनीशों के नमन - अनमन - मध्य
मति कर मुदित तमीचर कुचाली की।
मार कर महिप, विदार कर चण्ड - मुण्ड
करता प्रशस्त मुक्ति - बाट भ्रम - जाली की।
मित्र[1] के मयूख से भी प्रखर मरीचि - युक्त
मज्जा-अस्थि काटता निशुंभ शक्तिशाली की।
देखा महामहिम, मृडानि! मंडलाग्र तेरा,
रचता प्रलंब मुण्डमाला मुण्डमाली की।

५७६—संसृति - त्रयी का यान, यश का समीर - यान
ढङ्ग यम का है, किन्तु रंग यमुना का है।
यातुधान - यज्ञ का अयोमुख है यूप यह
संयुग में आयत विजय - युग्य[2] बाँका है।
काट यूथ - नाथ की युगल गंड - मंडली को
यात याम - कारी हयग्रीव[3] की सभा का है।
अंब! तेरा कठिन कुठार है अमाय[4] ऐसा,
काम में युधिष्ठिर[5] है, नाम में बराका[6] है।

५७७—राष्ट्र - शत्रु - रूपी बासरों को रजनी है यह
रचता निशुंभ - पृतना[7] का-घोर घेरा है।
वीर - मृगराज - गणना की है अराल रेखा
रण - धरणी में रिपु - रुधिर - लुटेरा है।
करि - कर - करट[8] बिदारता निरन्तर जो
तूलिका - समान राज - मार्ग का चितेरा है।
रक्तबीज - रावण को राम - सा विराजमान
रक्त - रंग - रंजित कुठार, अंब! तेरा है।

१-सूर्य्य। २-जुआ (गाड़ी का)। ३-एक दुष्ट। ४-कठोर, हृदयहीन। ५-युद्ध में स्थिर रहने वाला। ६-विशेषता-विहीन। ७-सेना। ८-मद।

५७८—कलि - कुल - निलय - निवेश का ललाम मूल
शक्ति में अलक्ष्य, चंद्रमौलि-भक्ति से अभिन्न।
लोकालोक लंबित इला[1] की वलया[2] लौं लंब
होता लख कीलालय[3] - वृन्द का ललाट छिन्न।
व्याल - गंड मंडलों विलग्न अलियों से यह
लालित ललित लेलिहान भट - प्राण - भिन्न।
शैलनंदिनी ! है काल-व्याल[5] मंडलाग्र[6] तेरा
विलस रहा जो लक्ष्य करता लुलाप[7] खिन्न।

५७९—वायु - वेग - विदित विमुख कर वाहिनी की
विग्रह[8] में वैरि - वृन्द विपुल सँहारती।
वारणों के वर्ग में विसर्प[9] करने का सदा
वीत - शंक बन बार - बार व्रत धारती।
वीर - चर्य करती विनष्ट वध विघ्न का भी
विगत - विराम नित्य विरुद बगारती।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण दैत्य - व्रात[10] - मध्य
राई - लोन आहव - विभूति पर वारती।

५८०—श्याम अंशु शोभित दिशाएँ करती हैं शुष्क
शाखा को, शिखा को देख जाता है निशुंभ गिर।
होता धूम्र शंकित शमन - शिशु[11] - तुल्य देख
शोक की शिला से शीत होता रक्तबीज विर।
श्रान्ति शान्त होती है नृशंस रक्त बीज की भी
शेष रहती न शक्ति जाता है शरीर चिर।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी शात[12] शुक - शाली
शीघ्र कर देती है शकल[13] शुंभ - शत्रु - शिर।

१-पृथ्वी। २ सीमा। ३-राक्षस। ४-हाथी। ५-सर्प। ६ तलवार। ७-भैंसा। महिषासुर। ८-युद्ध। ९-संचरण। १०-समूह। ११-यमराज का बालक। १२-तीक्ष्ण। १३-टुकड़ा।

५८१—होकर अजस्र स्वाभिलाष में निषण्ण यह
द्विषद - वदन में कलुष भरती सदा।
धृष्ट दनुजों को नष्ट करती अकृष्ट बन
भ्रष्ट दानवों पै कष्ट - भार धरती सदा।
षण्ड[1] वैरियों पै रुष्ट चाप - सी पतन - शील
षट[2] - गुण शुंभ के सहर्ष हरती सदा।
अंब ! तेरी असित कृपाणी हृष्ट पुष्ट दुष्ट
द्वेषियों की देह खंड - खंड करती सदा।

५८२—सब सूरमाओं की सकल सत्व[3] - सार - युक्त
द्युति से समस्त व्योम - भूमि प्रकटाता है।
संग सम - समय स - मुद समासन्न तेज
संयुग सहस्र भाँति साज सजवाता है।
सुभट गणों का स्वर्ग - सुख करता है सिद्ध
सिहर - सिहर सूर्य - मंडल दिखाता है।
सायक तुम्हारा, सिंहवाहिनि ! समर में यों
साहस की संपति सवेग सरसाता है।

५८३—हेर हर ह्रास को हहर उठते हैं ऐसी
हुलस रही है रण - भूमि में विहरती।
शुंभ को हटकती[4], हड़पती निशुंभ को भी
चोखे चाव धरती अनोखे हाव भरती।
हकबक हाथियों के होश हवा होते, उन्हें
हँस के हराती, हर - हार लंब करती।
अंब ! तेरी कुटिल कृपाणी प्राण - हारिणी हो
अहित हराती है, स - हित शत्रु हरती।

१-असौम्य। २ मंत्री, मित्र, कोश, दुर्ग, राष्ट्र और बल। ३-प्राण अथवा शक्ति। ४ मना करती।

५८४—अंब ! तेरी वाम - कुक्षि-क्षपित कृपाण घोर
क्षोभ - हीन करती समक्ष - मुख - वान[1] को।
क्षीर—सा सुयश एक क्षण में प्रसारती है,
करती अपक्ष पक्ष - युत बलवान को।
क्षीण मनुजों को कल्प - वृक्ष - सी परीक्षित तू
क्षुब्ध करती है क्षोणी - पति युयुधान को।
क्षीब[2] हो क्षतज[3] से अराति करती है क्षाम
लक्ष - लक्ष सुभट पठाती आसमान को।

५८५—अज्ञ कर देती है बहुज्ञ सुभटों के यूथ
विज्ञता को नीर - हीन - मीन[4] कर देती है।
प्रज्ञ रक्त - बीज की मिटाती ज्ञातृता को यह
युद्ध - यज्ञ विभव - विहिन कर देती है।
ज्ञात नहीं सीमा जिन्हें इसके पराक्रम की
उनका समस्त ज्ञेय लीन कर देती है।
अंब ! तेरी कठिन कृपाण असुरों के मध्य
ज्ञानवान को भी ज्ञान - हीन कर देती है।

१ सामने मुंह किये हुए को। २ क्षीण। ३ लोहू। ४ निःसाहय्य।

यह स्कंध वृहत्तम है। इसमें कवि ने ११६ छन्दों द्वारा महिषासुर का वध वर्णन किया है। यह भगवती का मध्यम चरित्र है जो शाक्त ग्रंथों में बड़े ही आलंकारिक ढंग से वर्णित है। आपको इस स्कंध में बड़े ही उत्तमोत्तम भावात्मक छन्द मिलेंगे। सारा विभाग वीर-रस से ओत-प्रोत तो है ही, साथ ही कुछ शृङ्गार एवं हास्य-रस के भी छन्द कहे गये हैं जो इसको और भी रोचक बना देते हैं। स्मरण रहे, वीर-रस के साथ उक्त रसों का संयोग बड़ी ही कठिन समस्या है। कहा भी है, "जैसे बरनंत जुद्ध में, रस सृङ्गार न सुहात"। फिर भी उक्त रसों का योग आपको पसंद आवेगा।

रस के अतिरिक्त अलङ्कारों का प्रयोग भी विशेष रूप से किया गया है। प्रायः सभी प्रसिद्ध अलङ्कारों को प्रयुक्त करके कवि ने अपने आचार्यत्व की पराकाष्ठा दिखलायी है। उन सबकी गणना करने का न यह स्थल है और न आवश्यकता। ध्वनि तथा व्यंग के पूर्णतया निरूपण के लिए ही कवि ने हास्य-रस का आश्रय लिया तथा रस को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए शृङ्गार को अपनाया है। चूंकि भगवती ने अपने बाएँ चरण से महिषासुर का वध किया है, अतएव उसको भक्ति-रस की पुट देने में सुविधा मिली है। रौद्र तथा वीभत्स का भी यत्किंचित प्रयोग दर्शनीय है। सारांश, इस स्कंध में कवि ने काव्य के सभी मुख्य अंगों को समष्टि रूप से रखने का प्रयत्न किया है।

स्मरण रहे, कवि ने महिषासुर-वध किसी धारावाहिक कथानक के आधार पर नहीं लिखा है। कवित्त छन्द जितना उपयोगी मुक्तक काव्य के लिए है उतना प्रबन्ध-काव्य के लिए नहीं। इसीलिए कवि के भाव ओस की बूंदों की भाँति प्रकीर्ण और विशृंखलित बिखरे हुये हैं। हाँ, यदि इन छन्दों की सरि बिठला दी जाती तो अधिक अच्छा होता, परन्तु कवि ने वही क्रम रखना अधिक पसंद किया जिस क्रम से इनका निर्माण हुआ।

५८६—ग्यारह महेश रबि बारह पलायमान,
हो चुके विलोक महिषासुर महान को।
कुण्ठित कुलिश हो रहा है पाक - शासन का,
जाके छिपे बरुण बचाके निज जान को।
निपट स - शंक है शशांक[1] अंबरांगण[2] में,
प्राप्त हो रहा है पवमान[3] अपमान को।
हिल जाय, अंब ! तेरा चरण मनाक[4] आज
मिल जाय मुक्ति यातुधान युयुधान को।

५८७—रक्त - तृषा - वेग से वदन - व्यान[5] दीर्घ कर
रसना प्रलम्ब जठराग्नि - ज्वाल - जालिका।
मुक्त - केश - पाश पृष्ठ अजिनानुबद्ध[6] कटि
प्रबल प्रमत्त - चित्त चंड - मुण्ड - घालिका।
पाश - शूल - चाप - चक्र - चालित प्रचंड कर
क्रोधारुण लोचना अखंड - मुण्ड - मालिका।
देख महिषासुर समागत रणस्थल में
सिंहिनी - सी लपकी कराल क्रुद्ध कालिका।

५८८—चूड़ियों की झंकृति शरासन चढ़ाते हुयी
प्रीति उपजाती हुयी शंकर के मन में।
किन्तु भीति उपजी महिष - चित्त में यों घोर
विद्युत कड़क उठी मानों सांध्य घन में।
यद्यपि प्रकृष्टतर युद्ध की विभीषिका थी,
आयी काम - जन्यता महेश्वर के मन में।
उन्नत उरोज भव - भूति - सितानन[7] देख
छाया अनुराग भवभूति - सितानन[8] में।

१-चन्द्र। २-आकाश के आँगन में। ३-पवन। ४-थोड़ा-सा। ५-फैलाव। ६-मृग चर्म से बँधी हुयी। ७-उरोज का विशेषण। ८-शंकर।

५८६—निपट कुमार शिखि - वाहन कुमार मम
शैल - शूल - शक्ति के प्रहार से डराता है।
क्षीण - दन्त अब भी गणेश दुग्ध-पायी,[1] अरे,
देख गज - वदन स[2] - मद डकराता है।
धूलि - धूसरित हैं हमारे भोलानाथ, इन्हें
जान कृत्ति - वास[2] सिंह तुल्य समुहाता है।
आयी सिंह - वाहिनी समर - अवगाहिनी है,
थम - थम, ठहर - ठहर, कहाँ जाता है।

५९०—तीनों लोक क्षण में ग्रसित करने को या कि
काल[3] - रसना - सी एक - संग लसने लगीं।
अथवा मुकुन्द - पद - नख से अरुण बन
ऊर्ध्व गामिनी हो तीनों गङ्ग लसने लगीं।
तीनों सांध्य वेला या कि शंकर - निदेश - नद्ध
विद्रुम लता - सी अंग - अंग लसने लगीं।
तीन रक्त - धारा जो त्रिशूल - घात - द्वारा चलीं
रंग के फुहारा - सी अभंग लसने लगीं।

५९१—उस महिषासुर के—जो कि इन्द्र - द्वेषी रहा—
उस नारकी के जिसकी कि मृत्यु आयी है।
हूलते त्रिशूल रक्त धारें तीन छूटीं दीर्घ
लोहितांभ - अंबुधि की समताल खायी है।
शंबर[4] को मार कर, उदर विदार कर
अंबिका ने फिर से प्रकृति पूर्व पायी है।
मानों क्रान्त हो कर स्वकीय शान्त भावना से
तीनों लोचनों से रोष - रक्तिमा बहायी है।

१-पीने वाले। २-हाथी की खाल ओढ़े। ३-तीनों काल। ४-दैत्य।

५६२—धन्य वह वाण जिसकी कि शक्ति देख कर
वादित विजय - दुन्दुभी भी वहुधा हुयी।
धन्य वह विशिख कि जिसके समक्ष, अहो !
कीर्ति राम[1]- वाण प्रसारित सुधा हुयी।
धन्य वह कालिका - कलम्ब[1] जिससे कि द्रुत
कंपित समस्त व्यस्त नाग - वसुधा हुयी।
मार दिया महिप विदार दिया विग्रह भी
पार किया भू को शेष - रसना द्विधा हुयी।

५६३—शूल के प्रहार - द्वारा उल्लसित होता जो कि
श्रीफल - कठोर कुच की भी तटी फरकी।
आधी कसी कंचुकी अ - बंध लहराने लगी
रोमावली डोली वलि - वंचित उदर की।
ढीली पड़ी त्वरित गँभीर नाभि - मंडल से
नीबी अंतरीय पट - वास[2] छबि - धरकी।
छूटी केश - ग्रन्थि लम्बमान करते ही कर
चिक्कण चिकुर - चूड से भी सारी सरकी।

५६४—चलित सरोरुह कलित कोष - तुल्य लाल
लोचन उमा के वीर बाँके देख फरके।
झंकृति - समेत वलयावलि[3] - वलित कर–
कंज से स - नाल - कंज - तुल्य पुङ्ख[4] सरके।
वाण चलते ही प्राण भागे प्रतिपक्षियों के
चित्त उठे सिहर विरंचि हरि - हर के।
सर सर सर शर छूटते शरासन से
तर तर तर कंचुकी के बन्द करके।

१-बाण। २-लहँगा। ३-चूड़ियाँ। ४-बाण।

५६५—उसके विलोचनों से दृष्टि करती है सक्त
लाती निज मन में विराम को न यति को।
अपने हसित से बनाकर स-हास उसे
रंजित कराती रक्त-यावक-वितति को।
ऐसी नर्म-कर्म-शर्म-वर्म-धारिणी तू देवि
पंच शर-संयुत बनाती मार मति को।
युद्ध-मिष करती प्रदान वरदायिनी ! तू
रति पशुपति[1] को कि गति पशुपति[2] को।

५६६—ऊब ही उठी थी अंब क्लेश से त्रिविक्रम[3] के
खिन्न हो चुकी थी अवसाद[4] से विधाता के।
आया देख सामने स-मद महिषासुर को
आया रोष नेत्र में हिमाद्रि-अंग-जाता[5] के।
होंठ से दबा के दन्त, दर्प से प्रहार कर
प्राण ही उड़ा दिये दुरन्त दुःख दाता के।
घूम गये घूँघुरू निनाद-युक्त नूपुरों के
झूम गये झूमके झटिति विश्व-माता के।

५६७—रहतीं चढ़ी हैं बिना तीर के कमान-सी जो
बंकिम भ्रुवों की और भंगिमा बढ़ाना व्यर्थ।
पाटल-पटल से अटल रंग वाले होंठ
इनको प्रकंप झूलने पर झुलाना व्यर्थ।
मद से ललित हो रहा है अंब ! तेरा आस्य
रोष-रक्तिमा से इसे कलित बनाना व्यर्थ।
महिष मरेगा एक पद के प्रहार से ही
इसको त्रिशूल से त्रिदिव[6] पहुँचाना व्यर्थ।

१ शंकर। २-महिष। ३-विष्णु। ४-दुःख। ५-उमा। ६-स्वर्ग।

५६८—"चन्द्रमुखी ! तुझसे नहीं है अर्ध चन्द्र[1] नेय,
घूम संग में न सौत सरि अत्र - त्राणी[2] के।
होता खेल दो में, यह देख पाश मेरा पड़ा,
फेंक निज अत्र[3] भुज मृग - मद - घ्राणी के।
तेरा अनुरक्त मैं पुकारता स - काम - भाव
कंठ-गत होती क्यों न प्रेम - वश्य प्राणी के"।
सुन के शिवा के एक चरण - प्रहार में ही
वाणी, रक्त, प्राण, तीनों निकले विपाणी[4] के।

५६६—शूल वेधते ही धार छूटी रक्त शोणित की
जिसके फुहारे रोदसी में भरने लगे।
शंकर प्रमाद से युगान्त - सांध्य - काल मान
एकाएक शैल पै प्रनत्त[5] करने लगे।
भंग हुयी विजया - तरंग बहि - रंग देख
मोह अपना वे इस भाँति हरने लगे।
बार - बार भेंट भामिनी को महा मोद - युक्त
वामा विजयोत्सव - समुद्र तरने लगे।

६००—आया युद्ध - कौतुकी समीप अंबिका के जब
मंद हास - भास में भयंद[6] शैल - सा लसा।
हो गया अतीव पीत - मुख[7] असुरेन्द्र तभी
देख सित - पिंगल मृगेन्द्र मैल - सा लसा।
यावक - वलित[8] पद ललित ललाम - द्वारा
मींचते ही महिष अलक्त[9] चैल[10] - सा लसा।
बिंबित नख द्युति तुरन्त हुयी, फेंकते ही
रोदसी में मृतक मरैल[11] बैल - सा लसा।

१-एक अस्त्र। २-गंगा। ३-पाँता। ४-महिष। ५-नाच। ६-भयकारी। ७-पीले मुख वाला (डरा हुआ)। ८-महावर से युक्त। ९-लाल। १०-कपड़ा। ११-मरियल।

६०१—"गोत्र - रिपु इन्द्र ! गोत्र - रिपु महिषासुर भी
तुल्य - योगिता है तुमसे न मार खायेगा।
त्यागो धनु केशव ! कुशल बलि - बंधन में
यह वलि - पशु पशुता ही अपनायेगा।
ख्यात है महिष बलि होता चंडिका पर है
कैसे तव पाश में वरुण बँध जायेगा"।
सुन के जया की जय - ध्वनि जगदम्बिका ने
चरण उठाया दुष्ट शरण न पायेगा।

६०२—"खिन्न हो रहे हो गज - वदन वृथा ही तुम
तुमको वरेणुका[२] कहीं से मिल जायेगी।
जननी - समूह है तुम्हारे हे कुमार ! इस
माता की विहीनता कदापि न सतायेगी।
मुझको सँहारना अभद्र भद्रकाली यह
कुटिला कराली मृत्यु - मुख में समायेगी"।
ऐसा बकते ही पड़ा पद महिषासुर पै
अंब ! तेरी अकथा कथा की याद आयेगी।

६०३—"स्वस्थ जयवाहिनी ! पुलोमजे[३] ! तुरन्त बनो
दैत्य यह अब न सुरेश को सतायेगा।
देखो युद्ध अपनी सहेली का प्रसन्न बन
यक्षराज - दयिते[४] ! तुम्हारा दुःख जायेगा।
स्वाहे[५] ! शान्त होकर विलोको सुख लोचनों का
रोहिणि[६] ! तुम्हारा पति पति न नशायेगा।
त्याग दो समुद्र, हे समुद्रजे[७] ! विहाय भीति
नीति - हीन महिष अवश्य मृत्यु पायेगा[८]"।

१-समता। २-हथिनी। ३-इन्द्र की स्त्री। ४-कुबेर की स्त्री। ५-अग्नि की स्त्री। ६-चन्द्रमा की स्त्री। ७-विष्णु की स्त्री। ८-किसी योगिनी की उक्ति है।

६०४—"मंद हो रहे हो, अग्नि ! देख युद्ध-ज्वाला मम
लपट बढ़ाओ, चलो, आओ अब सामने।
दीन हो रहे हो तुम वरुण ! करुण बन
पुष्टता गँवायी क्यों तुम्हारे दृढ़ दाम[1] ने।
इन्द्र ! छोड़ अपनी महेन्द्रता न भागो, अहो !"
घोष किया जब यों महिप बल - धाम ने।
टूट गया धनुष कुबेर का पिनाक - तुल्य
तोड़ा तृण - तुल्य दंड कंक[2] यात - याम[3] ने।

६०५—शूल[4] जो लगा तो शैल - तुल्य अविकम्प रहा,
इषु[4] जो लगा तो अनिमेष अड़ता रहा।
पट्टिश[4] विलोक अट्टहास में निलीन रहा,
कुण्ठित हुआ न कुन्त[4] भी जो गड़ता रहा।
व्याकुल बना न वज्र - घात से सुरारि दुष्ट,
हो गया अशंक जो भी शंकु[4] पड़ता रहा।
कृपण कृपाण से न वक्र हुआ चक्र से भी
घोर घमासान युद्ध क्रुद्ध लड़ता रहा।

६०६—"अतनु नहीं हूँ, सुम[5]-सायक नहीं हूँ, शिव !
तीसरे विलोचन से शृंग दो विलोक लो।
व्याल[6] संग तो भी कभी भीति न सताती मुझे
जान के न यज्ञ[7] तंत्र - मंत्र निज रोक लो।
त्रिपुर नहीं हूँ, पुरोगामी सब दानवों का,
चाहो जितने भी शूल - शंकु - कुन्त झोंक लो।
भामिनी बचेगी न तुम्हारी आज आहव[8] में
शंकर ! भयंकर समर अवलोक लो[9]"।

१-पाश। २ यम। ३-गया-गुजरा। ४-आयुधों के नाम। ५-पुष्प। ६-हाथी। ७- तन्त्र शास्त्री। ८-युद्ध। ९-महिष वचन शंभु प्रति।

६०७—हूलतें त्रिशूल उड़े प्राण महिषासुर के
त्वरित गया सो यमलोक को प्रयाण कर।
तीनों रक्त - धारा लगीं छूटने शरीर से यों
मानों गैरिकाद्रि से रहे हों झरने - से झर।
संध्या - रंग - रंजित त्रिपथगा[1] प्रवाह - युक्त
देख बोली विजया हसित अधरों पै धर।
"रखते नहीं क्यों शीस भामिनी - प्रसाद अब
चन्द्रधर, आप हैं कपर्द[2] - धर, गङ्गा -धर"।

६०८—पाया लगा खाट का तुम्हारे खड्ग में है, हर !
ऐसे आयुधों से इस दैत्य को हराओगे।
नारी आधे अंग में निवास करती है सदा
स्त्रैण[3] इतने हो, वीर बाना भी निभाओगे।
देव हँसते हैं देख लीला भवदीय, नाथ !
अब इस असुर - समाज को हँसाओगे।
छोड़ दो लड़ाई घोर - रूपा घरवाली पर
मोड़ दो वृषभ, न महिष जीत पाओगे[4]।

६०९—"मैं हूँ दानवेन्द्र, न कुमारी शची चाहता हूँ
कालिका विलोक विकरालिका लुभाया हूँ।
चारों खुर - पुट से दलित हो उठी है भूमि,
धूल को रमा कर प्रसन्न - चित्त धाया हूँ।
टूट गिरी पथ में कपाल - माला दौड़ने से,
पीछे छोड़ सुभट अकेला समुहाया हूँ।
त्रीड़ा हरने को पर - पति - कामना की, देवि !
क्रीड़ा करने को ईश[5] - वेष रख आया हूँ"।

१-गंगा। २-जटाजूट। ३-स्त्री-गामी। ४-शंकर के प्रति किसी योगिनी का हास्य। ५-शंकर।

६१०—अति विकराल ज्वाल धारा से प्रवाहित है
एक पल में जो तीनों लोक को जलाती है
निज ध्वनि - द्वारा त्रस्त करती सुरासुर है
एक क्षण में जो दैत्य - मंडल डराती है
ऐसी गरिमा है महाचक्र की त्रिविक्रम के
तो भी, अंब - पद - लघिमा को न हराती है।
अंबर में जाती छोड़ कुशल दिगम्बर की
शंबर[1] पै मुशल मृडानि ! तू चलाती है।

६११—"अग्नि ! तुम धूमकेतु यद्यपि कहाते, पर
मेरा धूमकेतु घोण[2] देख समुहाना मत।
चन्द्र ! तुम कुधर[3] - शिखर चढ़ते हो नित्य
भूल कर मेरे शृंग - युग्म पर आना मत।
सूर्य्य ! तुम प्राकृत महिष करते हो तप्त
मैं हूँ असुरारि धोखा दौड़ कर खाना मत।
तीनों नेत्र तुम हो कुमारी के, इसी से बचे,
देखूँगा तुम्हें भी निज बल दिखलाना मत"।

६१२—विष्णु-खड्ग नन्दक के नाम से मही में ख्यात
होकर अ - हत - गति अमित बल खाता है;
काम पड़ते ही निज धाम को गया यों वह
जैसे भीरु भाग युद्ध - भूमि छोड़ जाता है।
यह अतएव स्वयमेव पद नंदक[4] है
जिसको विलोक शक्र - चक्र शरमाता है।
चैत्य[5] चकराता, शैत्य आता दैत्य - विग्रह में,
घोर घबराता, डकराता, मृत्यु पाता है।

१-दैत्य। महिष। २-नथुने। ३ पहाड़। ४-(देवताओं को) प्रसन्न करने वाला। ५-स्तंभ।

६१३—आगत विलोक महिषासुर रणस्थल में
भागे शंभु कहते, "हिमालय को जाता हूँ"।
देख विषमस्थल[1] वरुण हो पलायमान
बोलते गये कि दुःख दारुण उठाता हूँ।
शून्य युद्ध - भूमि देख बोला दैत्य क्रोध कर
"सूर्य ! तप्त हूँ मैं वरुणालय[2] न पाता हूँ।
स्थाणु[3] भी न, जिससे मिटा लूँ खाज अंग की मैं
न दम किसी में धर कदम उठाता हूँ"।

६१४—दिग्गज हुये जो युद्ध - भूमि से पलायमान
भागना उचित था दिशाएँ कौन धरता।
भूमि चली जाती निराधार हो रसातल में
मिलती न देवादेव - रण को अमरता।
किन्तु युद्ध - भूमि से प्रयाण हर ने जो किया
कौन - सी भला थी बोलो इसमें सुघरता।
स्थाणु[4] बन जाते निज नाम को यथार्थ कर,
काम उनका था बदनाम कौन करता।

६१५—"ले लो कुछ मेदिनी परशुराम से ही, नाथ !
मुट्ठी भर बीज धन - पति[5] से उधार लो।
जाके माँग लाओ बलभद्र से तुरन्त हल
अपना त्रिशूल फाल - तुल्य अवधार लो[6]।
यह लो महिष इसको मैं प्राण - दान देती,
वृषभ तुम्हारा दूसरा पशु निहार लो।
खिन्न हूँ मैं दैत्य से न प्राण दान माँगो, पति !
प्रकृत भिखारी ! खेती करना विचार लो।

१-दारुण स्थल अर्थात् युद्ध-भूमि। २-समुद्र। ३-शंकर अथवा सूखा पेड़। ४-सूखा पेड़। ५-कुबेर। ६-विचार लो।

६१६—अधर तरंग - भङ्गिमा को भजते ही रहे
होती रहीं कंपमान कुंचित भ्रुवें विशद।
रोम शक्ति - संचित उदंचित[1] बने ही रहे
फैला रहा रक्तिम मुखारविन्द पै भी मद।
रह गया कर का त्रिशूल भी तना का तना
वसुधा विलोड़ित बिलोक के जया[2] का नद।
बैठा बरिबंड[3] महिषासुर के मुण्ड पर
प्रबल प्रचंड अचलेश नंदिनी का पद।

६१७—आया अंबिका के पद - पास यातुधान ज्यों ही
हुंकृति अघी[4] की बनी रेंभण[5] अजाज[6] की।
एक - ही प्रहार में द्विखंड हुआ मूलाधार
जैसे कि हिंगोट[7] पे पड़ी हो चोट गाज की।
पद पड़ते ही गये उभय रसातल को
दनुज - अभीति, भीति मनुज - समाज की।
चरण उठाते उठे दोनों अन्तरिक्ष - मध्य
आयुध सुरों के, आयु असुराधिराज की[8]।

६१८—वाम पद की है बार - बार बलिहारी, अंब !
देख जिसे हो गया छपाकर भी छत्ता - सा।
फैली अनवद्य[9] सद्य-जात[10]-सी नखों की ज्योति
कर सुर - सरि का प्रभाव गत - सत्ता - सा।
एक ही प्रहार में उदर - गत भेजा हुआ,
कंपित कलेजा हुआ चल - दल[11] -पत्ता - सा।
खींच लिया प्राण रक्त - सार - सा अ-सार कर
फेंक दिया महिप महावर का लत्ता - सा।

१-उठ हुये। २-मेंहदी। ३-भयंकर। ४-पापी। ५-आवाज। ६-बकरा। ७-एक प्रौढ़ पेड़। ८-सहोक्ति अलंकार। ९-पवित्र। १०-ताजी पैदा हुई। ११-पीपल।

६१९—पद पड़ते ही महिषासुर के मुण्ड पर
बिंबित हुये यों रत्न अंब - अनवट[1] के।
दोनों श्रृंग इन्द्र - चाप - सदृश प्रतीत हुये,
निकले नवाम्बुद - पटल से ज्यों टटके[2]।
अथवा, निशाचर की शिर - सरसी में मंजु
हो रहे प्रफुल्ल पद कंज - से प्रकट के।
शोभित नखावलि - मयूख ज्यों मृणाल - मध्य
नूपुर मिलिन्द - पुंज के समान लटके।

६२०—होते ही अराल[3] काल - व्याल - सा कराल पद
महिप मराल - सा प्रकंपमान हो गया।
शूल - सा पड़ा जो मनुजाद के कलेवर पै
शूल देवताओं का समूल शीघ्र खो गया।
नूपुर - निनाद - मिप सकल प्रजा का वह
जय - जय - कार उठ दूर दिव[4] को गया।
प्रकृति - प्रचंडी देख सामने घमंडी घोर
जागी रण - चंडी, प्राण - खंडी खल खो गया।

६२१—हार में गुँथा था जिसके कि वज्र वासव का
कंकण हो कर में न कैसे चक्र थमता।
जिसके कि चिकुर - प्रसाधन[5] का साधन था
पाश भी वरुण का कचों में क्यों न रमता।
आज उसकी भी माँग[6] रंग - भरी भ्राजती है,
राजती सुभाग्य - सी कुभाग्य की विपमता।
होकर महेश - महिषी के चरणों में लीन
हो गयी महिप - महिषी की सती - समता[7]।

१-बिछुवे। २-ताजे। ३-टेढ़ा। ४-आकाश। ५-बाल सवारना। ६-बालों की मांग। ७-सती के समान भाव।

६२२—विंध्याचल - वन - विहरण - शील अंबुज का
सौरभ - समेत सुषमा से भूमि छा गयी।
शैल - संचरण - संजनित श्रम - सीकर से
वाम - पद - मध्य खुजली - सी कुछ आ गयी।
विन्ध्य-शृंग - मध्य विन्ध्ये - शृंग महिषासुर की
खोपड़ी से एँड़ी सहसा यों टकरा गयी।
हुंकृति लुलाप[1] की निलीन हुयी नूपुरों में,
रक्त - धार यावक[2] - समूह में समा गयी।

६२३—एक पिंग[3] केसर विमंडित महान मंजु
दूसरा कराल रक्त - रंजित प्रचंडतर।
स्वनित[4] वहाँ पै नव्य - नूपुर - मिलिन्द-गुंज
ध्वनित यहाँ है महाघात दुष्ट - प्राण - हर।
पंखुड़ी - समान अंगुली है अभिराम वहाँ
ज्योति है नखों की यहाँ घातक कृशानु - धर।
दक्षिण चरण कंज - सा है कुंजरारि[5] - पीठ
वाम पद अपर - कृतान्त - सा सुरारि[6] पर।

६२४—साम - गान खल ने विरंचि का न कान दिया
भेद[7] हरि - चक्र का अवश्य पड़ा फीका है।
ऐरावत की भी दान[8] - वृष्टि से न तुष्ट हुआ
दंड यम - का भी खाद्य - विषय अभी का है।
असफल साधन समस्त हो रहे हैं आज
चारों ओर फैला हाहाकार जगती का है।
बैठा वज्र - मुशल - समान महिषासुर पै
पंचम उपाय अचलेश - नंदिनी का है।

१-भैंसा। महिषासुर। २-महावर। ३-पीला। ४-शब्द-युक्त। ५-सिंह।
६-महिष। ७-आघात। ८-मद-जल।

६२५—सुर - सुमनों से सदा सेवित रहा है जो कि
गाती रहीं किन्नरी सुयश ताल - स्वर पर।
शक्ति से प्रवल बल - वैभव - विनाशी वह
वज्र हो गिरा है युद्ध - कौतुकी - कुधर[1] पर।
नख - रुचि पिंगल सटा - सी है विराजमान
भ्राजमान तामस गजाधिप के कर पर।
राज रहा आज सभी भाँति से सुरेन्द्र - सम
चरण मृगेन्द्र असुरेन्द्र के शिखर पर।

६२६—साजता है सुभग समाज भृंगराज आज
परम प्रसन्न है घनागम - प्रसंग पर।
गाजता करीन्द्र - सा महिष - रोम - कानन में
बाजता मँजीर है मुरज मुरचंग पर।
भ्राजता है सुभग मराल - मालिका से युक्त
अति छवि - मंडित नख - द्युति अभङ्ग पर।
इन्दीवर[2] - चरण विराजता सुरारि - शिर
श्रावण घटा - सा राजता है नील शृङ्ग पर।

६२७—होते ही अराल काल - दण्ड - सा कराल क्रूर
दैत्य की अरालता[3] त्रिलोक में गयी न रह।
देते ही प्रहार सुर - विपति विदार कर
शल्य - सा निकल के विराज देव-दुःख-दह[4]।
नूपुर निनाद मिष जयति पुकार उठे
इन्द्र - यम - वरुण - कुबेर - अग्नि मोद-सह[5]।
जयति प्रताप - पुंज अमराभिनन्दनीय
वन्दनीय चरण महिष - मर्दिनी का वह।

१-पहाड़। २-कमल। ३-कुटिलता। ४-दाहक। ५-समेत।

६२८—हो रहे तरणि - यान - अश्व जो पलायमान
महिप - विभ्रांत भाग जाते हैं अवश्य हय।
जानें कहाँ सभय कुरंग है निशाचर के
दुगुनी पराजय विलोक सिंधु को भी भय।
सहता प्रभाव नहीं ओज यम - वाहन[1] भी
जिसके अधीन दीन हो रहा निरय[2] - लय।
चूर उसे करती चरण - चोट चंडिका की
जयति शिवा की जय, जयति उमा की जय।

६२९—आते ही समस्त दानवेन्द्र महिपासुर के
मारा चंडिका ने चंड एड़ी से चरण की।
भङ्ग की न भौंह ही अधीर हीर[3] - भामिनी ने
शत्रु-अस्थि-झारि[4] भङ्ग की ज्यों राशि तृण की।
केवल न खींचा निज पद को स - क्रोध किन्तु
खींचा सुर - कंटक[5] न देर एक क्षण की।
केवल किया न जय - मुखरित नूपुरों को
विजय - निनादित चमू की प्रजागण की।

६३०—नूपुर - निनाद के समेत नाद प्राणियों का
जाने को रसातल की धुन धरने लगा।
वेग के सहित प्राण क्रूर महिपासुर के
भाग अधोलोक[6] में प्रकम्प भरने लगा।
अंब - रोष - संग ही त्रिलोकी का अभूत भय
जान अपना ही बलि - दान डरने लगा।
चरण - विलोक कुण्डलीकृत[7] भुजंगराज
करके प्रदक्षिणा प्रणाम करने लगा।

१-भैंसा। २-नरक। ३-शंकर। ४-समूह। ५-काँटा। ६-रसातल। ७-गोल बना हुआ।

६३१—शूल यह शंकर ! तुम्हारा तूल - तुल्य हुआ
ज्या[1] ही शक्ति-हीन है कुबेर शक्ति-शाली की।
केश भी न वक्र कर पाये हृषीकेश ! आप !
ख्याति हुयी लुप्त इन्द्र - समर - प्रणाली की।
वरुण तुम्हारा पाश होता कंज - नाल जैसा
अग्नि अब बोलो पुरा व्यर्थ ही जुगाली की।
यों कह महिष - मुण्ड अंब - पाद - पिष्ट बना
करता प्रलम्ब मुण्ड - माला मुण्ड - माली की।

६३२—अपने महान अभिमान में प्रमत्त बन
अत्यधिक राजकीय शक्ति में अकड़ कर।
देव - दारु - घटित[2] मदा-सी कंस भूपति ने
तुझको घुमाया वाम चरण पकड़ कर।
छूट कर हाथ से तुरन्त वज्र - पुत्तली - सी
ऐसी गयी उच्च आसमान को धकड़ कर।
गुरु पद तेरा वही गाज - सा गिरा है आज
फैल गया महिष महीतल जकड़ कर।

६३३—पद के प्रहार से पछाड़ा महिषासुर को
क्रोध में दहाड़ा शत्रु - सैन्य घबरा गयी।
निपट निलज्ज ललना - सी संयुग[3] - स्थल में
घूम मुक्त - केशिनी असुर - असु[4] खा गयी।
आज वही इन्द्र - यम - वरुण - प्रशंसित हो
व्रीड़ा[5] - विनिमज्जित महेश्वरी कहाँ गयी।
या तो हो अधीर हीर[6] - हृदय - निलीन हुयी
या कि वामदेव - वाम - देह में समा गयी।

१-प्रत्यंचा। २-बनी हुयी। ३-रण। ४-प्राण। ५-लज्जा। ६-शिव।

६३४—"भङ्ग किया मेरु स्वीय शृङ्ग से तथापि मुझे
क्रोध नहीं आया स्वर्ग तक तू चला गया।
रिक्त किया उदधि न आया रोष किंचित भी
यद्यपि झिझक झष - झार[1] कुम्हला गया।
किन्तु जब तू ने किया कलुषित गङ्ग - नीर
कोप हुआ देख शंभु - चित्त घबरा गया"।
यह कह चंडिका ने चरण - प्रहार किया
महिष मदान्ध मृत्यु - मुख में समा गया।

६३५—"नन्दी ! युद्ध - मध्य तेरे प्रबल प्रहार, मुझे
मुरज - मृदङ्ग - रव - तुल्य लसने लगे।
सिन्धुर - वदन[2] ! रोम - तुल्य तुच्छ तेरे दन्त
टूटे किन्तु तुम तो वृथा ही त्रसने लगे।
मैं हूँ महाकाल, इन्द्र - वरुण - कुबेर - अग्नि !
तुम कटि अपनी वृथा ही कसने लगे"।
हाहाकार - मध्य यों प्रहार पद का जो हुआ
रोने लगे दनुज, मनुज हँसने लगे।

६३६—चूम कर अंबर वितत हो रही थीं जो कि
घूम कर भीषण भुजाओं के गहन में।
घोर दव - दहन - समान तीनों लोचनों की
अग्नि में विदग्ध बन खेद कर मन में।
ज्यों ही लगा सोचने अरण्य में शरण्य निज
मूढ़ महिषासुर विमूढ़ निज - पन[3] में।
पड़ गया पवि - सा प्रहारित त्वदीय पद
गड़ गया पशु पवनाशन - सदन[4] में।

१-मछलियों का झुंड। २-गणेश। ३-निजत्व। ४-नाग-लोक।

६३७—'बाहु - दर्प-शाली दैत्य !' रक्तदंतिका[1] ने कहा,
बोली कृष्ण-पिंगला कि 'घोर-काय धाया है'।
शंभु - दूतिका ने श्याम शैल-सा विलोका उसे
ब्रह्मवादिनी ने सिति जलद बताया है।
भ्रामरी ने वायु के बवंडर के तुल्य लखा
सर्व मंगला के चित्त भीम मूर्ति आया है।
अंब - अंघ्रि - आहत असुर लसा यों आज
शक्ति - युक्त प्राण हैं, न प्राण - युक्त काया है।

६३८—"अष्ट वसु ! तुम अष्ट दिग्गजों के पालक हो
आओ लड़ो, मारो मरो, मुँह क्यों छिपाते हो।
तुम गरुड़ध्वज[2] ! सवार हो गरुड़ पर
भाग कर शीघ्रगामिता क्यों दिखलाते हो।
इन्द्र ! हैं तुम्हारे अति आयत सहस्र दृग
सेना की न तो भी रेख - देख कर पाते हो"।
यह बकते ही हुआ पिष्ट पशु आहव[3] में
क्यों न अब शृङ्गी ! शृङ्ग तुमुल बजाते हो।

६३९—भाला से भवानी ने उछाला महिषासुर को
काला मेघ - खंड - सा लखाया सो गगन में।
गिर वसुधा पै श्वेत शैल - सा प्रतीत हुआ,
घिर अवदात[4] - अंब - दंत - छबि - बन में।
दौड़ पड़ा देखने हिमाद्रि तनुजा की कृति,
जान उसे विन्ध्य बंधु - भाव जगा मन में।
बार - बार जड़ता विवश भेंट - भेंट कर
व्यक्त किया शोण[5] अश्र भरके नयन में।

१-यह तथा छन्द में आये हुये अन्य नाम योगिनियों के हैं। २-विष्णु।
३-युद्ध। ४-उज्ज्वल। ५-लाल। शोणभद्र नदी जो विन्ध्य से निकलती है।

६४०—"मंदर - समान गिरा अंदर समुन्दर के
वासुकि ! लपेटो इसे अपने शरीर में।
क्षुद्र नाग ! छोड़ो नाग - तुल्य है पृथुल[1] पशु
गरुड़ ! पड़े हो चिरकालिक लकीर में।
अष्ट दिग्गजों से युक्त ऐरावत ! खींच तू भी
खींच भी न पाता, डूब जारे सिंधु नीर में"।
हाहाकार व्यापा मरते ही महिषासुर के
विस्तृत वसुन्धरा में, गगन गँभीर में।

६४१—ग्यारह महेश हुये रण से पलायमान
बारह दिनेश जिसे देख अस्त हो गये।
बेर[2] की कुबेर ने न युद्ध भूमि छोड़ने में
वज्र के समेत इन्द्र - हेति ध्वस्त हो गये।
शंक - हीन जिससे शशांक भी स - शंक हुआ
और उनचास वायु - वेग त्रस्त हो गये।
उस महिषासुर के शृंग - मुण्ड - कंठ - उर
अंब - पाद - पिष्ट पल में समस्त हो गये।

६४२—"चारु चन्द्र - हास तेरा मुग्ध करता है हमें
दानव का वक्ष - विशसन न उचित है।
घोर कर्म यह है स-लज्ज क्यों न होती, चंडि !
सचमुच तू तो दृढ़ - हृदया अमित है।
छोड़ शर, छोड़ चक्र, छोड़ शूल, छोड़ शेल,
छोड़ सब शस्त्र, युग - पद सुर - हित है"।
एक - साथ बोले देव - दानव स - रोष - घोष
दोनों की सदा से प्रतियोगिता विदित है[3]।

१-मोटा। २-देर। ३-देवता तथा दानवों के समान शब्दों से विषम अर्थ निकलता है। यह इस छन्द की विशेषता है।

६४३—दूषित हुये जो सुर - सरि सह - वास - द्वारा
उन कमलों की मंजु रेणुका - वितति को।
धारण किये जो निज अंग में प्रसंग - वश
आकर समीप किया प्रकट स्व - रति को।
आशा - परिपूरित स्वकीय करने के लिए
छूने चला वाम - पद - पंकज - प्रगति को।
बन अविवेका तू ने, वीर - रस - एका ! अंब !
छेंका[1] पशुपति को कि फेंका पशुपति को।

६४४—"रोष से चढ़ाकर सुगुम्फित भ्रुवों का चाप
इनको अधिक कमनीय क्यों बनाती है।
चाप पे चढ़ाकर निशित[2] नेत्र - बाण निज
मेरी ओर देख अविराम क्यों चलाती है।
मैं हूँ न पिनाकी तेरी सौत[3] का उपासी, देवि,
युद्ध है, मुधा[4] तू केलि-भाव क्यों दिखाती है"।
शब्द कर महिष अशब्द इस भाँति हुआ,
जीभ है न सिर है न कंठ है न छाती है।

६४५—शंभु शूल टूटा सिर पर पड़ते ही द्रुत
हो गया द्वि - फल लग कर अरि - शृंग में।
ऐसा अप्रभाव शिरोशूल उपजा न सका
टूक - टूक हो गया शिरोरुह[5] - प्रसंग में।
लौह - कण फैले धूलि - बन महिषासुर के
मुण्ड पर मानों ऋक्ष[6] यामिनी के अंग में।
अस्थि - सार उस पाद - पिष्ट दुष्ट का यों फटा
मानों वंश - वीरुध[7] - दवानल अभंग में।

१-रोका। २-तीव्र। ३-(उमा की) सौत—गंगा। ४-व्यर्थ। ५-केश
६-तारा। ७-समूह।

६४६—मुण्ड को अनुन्नत बनाती रुण्ड उन्नत सो
चरण जमाती मद - माती बिगड़ी हुयी।
अविबुध[1] जीत कर, विबुध अभीत कर
पीत[2] कर दैत्य - मुख सम्मुख अड़ी हुयी।
शूल पाणि में ले शूल - पाणि बन सत्वर ही
वीर - रस - सरिता - समान उमड़ी हुयी।
वामपद देकर सुरारि - मुण्ड - शृङ्ग पर
सिंहनी - सी सपदि नृसिंहिनी खड़ी हुयी।

६४७—तेरा पद - पद्म, अंब ! दैत्य पै उठा यों उच्च
सारा तारा - मंडल तरल चित्त हो गया।
सूर्य - चन्द्र चकित प्रताप लखते ही रहे,
उन्नत - अमर - दृष्टि - कोण दिव को गया।
किन्तु फिर भूमि पर आकर प्रहार कर
दैत्य मुण्ड मोड़ मही तोड़ तल जो गया।
असुर अधोमुख स - शंक देखते ही रहे,
खो गया भवन,[3] भवनाधिनाथ[4] सो गया।

६४८—"पंगु सारथी है और एक - चक्र[5] स्पंदन है
अश्व हैं असम, निराधार पथ वाला है।
राहु से ग्रसित बनता है बार - बार जो कि
यद्यपि स - तेज है, हृदय अति काला है।
सूर्य्य वह आकृत महिष करता है तप्त
मैं हूँ दिव्य - रूप जिसने कि सुर घाला है"।
यों कह ख - लीन[6] हुआ दैत्य समरांगण में
मानों कालिका ने काल - कंदुक उछाला है।

१-दैत्य। २-पीला। ३-रसातल। ४ महिषासुर। ५-एक पहिया वाला।
६-आकाश में अदृष्ट।

६४६—"जिससे विरंचि हरि हर भय खाते सदा
देखा मृत होते, फिर भी न पास आते हैं।
उसकी उमा - कृत - कराल - कुदशा यों हुयी
श्वान खाल खाते, काक - गृद्ध मँडराते हैं"।
बोली जया देख यह हाल जीवितेश[1] से यों,
"देव ! वृथा संशय हृदय - मध्य लाते हैं।
त्यागें निज महिप विभीत रण से है जो कि
यह लें लुलाप[2] आप यम कहलाते हैं"।

६५०—"ब्रह्मा यदि भागे उन्हें भागना उचित ही था
कमला मनस्थ क्यों कठोर रण चढ़ते।
विष्णु यदि भागे तो विचित्रता न कोई, नाथ !
गरुड़ासनस्थ युद्ध - भू में कैसे बढ़ते।
आप यदि भागे यही शोक है हमारे उर,
वृषभासनस्थ थे वृषभ चढ़ कढ़ते"।
बोली देख विजया महिष - वध शंकर से,
"सामने अपाय[3] था उपाय कोई गढ़ते"।

६५१—ज्यों ही जगदम्बा ने सँहारा महिषासुर को
फूँकने विषाण लगे देव - वृन्द व्योम में।
दौड़ पड़े त्वरित कुमार शृंग तोड़ने को
भर कर अमित उमंग रोम - रोम में।
धवल बना कर स्वकीय हास - द्वारा उन्हें
अंशु - से लगाकर गणेश - मुख - सोम में।
बोले, "दैत्य सो गया तुम्हारा एक दन्त तोड़
दो लो यह, घूमो बन्धु ! वीरता के जोम[4] में"।

१-यम। २-भैंसा। ३-विघ्न। ४-अभिमान

६५२—देख असुरारि छोड़ भागे समरस्थल जो,
पहले हुये जो भय-भीत सुर भारी हैं।
आकर समूढ़[1] हुये मूढ़ महिषासुर को
जान म्रियमाण चले दल-बल-धारी हैं।
आप ही हैं त्रिपुर-विनाशक महानुभाव ?
आप ही सुरेन्द्र वृत्र-असुर-सँहारी हैं।
आप ही नृसिंह, कलधौत-काय के हैं शत्रु ?
आप ही महिष पर करते सवारी हैं।

६५३—बैल अब वृद्ध हो रहा है भवदीय, नाथ !
'इसको' प्ररोहण बनाइये मुदित हो।
यों कह उछाला वाम पद से तुरन्त उसे
गिरा चन्द्रचूड के निकट चट[2] चित[3] हो।
दन्त-ज्योति पड़ते स-हास जगदम्बिका भी
ऐसा लसा क्रूर गौर रंग में निहित[4] हो।
मानों विन्ध्य-शैल एक ओर चंद्रिका से युक्त,
और एक ओर श्याम-रजनी-सहित हो।

६५४—"आप हैं जरठ शैल-नंदिनी कुमारी सदा
लोग कहते थे क्यों वसति[5] निभ पायेगी।
दोनों की विषमता सताती मयना[6] को रही
अब न हिमाद्रि को भी जड़ता[7] सतायेगी।
युद्ध में हुआ है प्रणिपात[8] महिषासुर का
दोनों की समान-रूप जोड़ी बन जायेगी।
आप वृषभध्वज पुराण से प्रसिद्ध, अब
स्वामिनी हमारी महिषध्वजा कहायेगी[9]।

१-एकत्रित। २-तुरन्त। ३-ऊपर मुँह करके। ४-छिपा हुआ। ५-निवास। ६-उमा की जननी। ७-मूर्खता या कठोरता। ८-नाश। ९-योगिनी-परिहास शंकर-प्रति।

६५५—"अशनि - विहीन अनशनि[1] हो रहे हैं आप
युद्ध में पलायमान इन्द्र ! तुम्हें धिक है।
धनद ! अगद[2] हो रहे हैं अतएव अब",
पूछा विजया ने, "कौन रोग मानसिक है।
महिप विचक्र[3] बनता है स्वयमेव फिर
आप क्यों विचक्र[4] हरि ! दृश्य कारुणिक है"।
सुन सुर - भामिनी प्रसन्न - वदना यों हुयीं
मानों प्रात - पंकज - प्रफुल्लित अधिक है।

६५६—देख पशु-ह्रास बोली विजया स-हास, "अहो !
देव - वृन्द, अब तो वृथा ही भय खाते हैं।
कलित - कलंक स्वयमेव शश - अंक आप
पंक क्यों पलायन[5] का अंक में लगाते हैं ?
हे हे हरि ! भीति से कहाँ को भागते हैं आप
अथवा महिप देख हरि[6] भाग जाते हैं।
वायुदेव ! आप तो प्रकंपन कहाते, फिर
होकर प्रकंपित अयश क्यों कमाते हैं"।

६५७—"भक्ष लिया क्षण में अनन्त असुरों की अनी[7]
फिर भी कृशोदरी ! महोदरी सही न तू।
पशु को सँहारा और पति दानवों की हरी
कैसे कहा जाय पशु - पति दुलही न तू।
कैसी जगदम्बिका ? अपत्य[8] नाशने में लग्न;
क्यों कर सती है ? पति - पावक दही न तू।
कैसे सर्व - मंगला कहायेगी अमंगल में
रण में महिष हर महिषी रही न तू[9]।

१-वज्र-हीन या निराहार। २-गदा-हीन या औषध। ३-सेना हीन। ४-चक्र-हीन। ५-भागना। ६-घोड़ा, हरिण आदि। ७-सेना। ८ संतान। ९-जया द्वारा भगवती से परिहास।

६५८—"अहह ! अपूत[1] रक्त - रंजित हुआ है यह
कैसे अब विजया महावर लगायेगी ।
निपट अछूत प्राण - घाती हो रहा है पद,
क्यों कर जया भी नव्य नूपुर पिन्हायेगी ।
विपुल विभीषण[2] विलोक के चरण क्रूर
अब न कुमार[3] को भी नुति[4] - सुधि आयेगी ।
महिष सँहार के बनी है, अंब ! जाने कौन,
कैसे वामदेव की तू महिषी कहायेगी[5]" ।

६५६—बालक गणेश हैं, कुमार[6] भी कुमार ही हैं,
अति सुकुमार ही हैं, मृतक न देखा, अंब !
सामने विराजमान नाथ निधनंजय हैं,
मारते त्रिलोक जो न लाते भाल रेखा, अंब !
तेरे पदाघात से मृदित महिषासुर हो
लड़ना ललाम ललनाओं का न लेखा, अंब !
किन्तु पाँव पड़ ही गया री महिषासुर पे
इतना अधैर्य्य भी कहीं न अवरेखा, अंब !

६६०—"स्वेद तव देह में क्यों झलक रहा है, देवि !"
"आपके तृतीय - नेत्र - जनित अनल से" ।
"और, किस कारण प्रकंप अंग - अंग में है,"
"भीत हूँ तुम्हारे सर्प - संघ[7] के गरल से" ।
"रोम क्यों समुत्थित[8] हैं सुन्दरि ! शरीर पर,"
"सुरसरि - शिशिर - तुषार - मय जल से" ।
महिष - निधन - यश गुप्त रख अंबिका ने
कर दिया शंभु को स - लज्ज बुद्धि - बल से ।

१-अपवित्र । २-भयंकर । ३-स्वामिकार्तिक । ४-विनय । ५-कवि द्वारा परिहास । ६-स्वामिकार्तिक । ७-समूह । ८-उठे हुये ।

६६१—मार महिषासुर को कालिका रणस्थल में
बोली, "पतिदेव ! क्यों विकल अंग - अंग हैं।
नष्ट हुयी चेतना स - मूल किस कारण यों
हो रहे वचन अविरल भय - भंग हैं।
शाखा के समान भुज दण्ड को पसारे हुये
स्थाणु हुये स्थाणु - तुल्य विरस कुढंग हैं।
आप ही पिनाकी ! आप शूली ! अंधकारी[1] ! आप
मारते त्रिपुर हैं, सँहारते अनंग हैं"।

६६२—शूल के बिना ही शूल नष्ट किया देवतों का,
शूल - पाणि की भी शूल - पाणिता निरख ली।
वज्र को विहाय वज्र - देह दैत्य मारा, अहो !
वज्र - हेति[2] की भी वज्र - हेतिता परख ली।
शक्तिता विलोकी सुर - सैन्य - अधिनायक[3] की
दण्डधर[4] की भी दण्डधारिता यों लख ली।
अंब ! तू ने वाम - पद - प्रबल - प्रहार - द्वारा
सहित - समाज अमरों की लाज रख ली।

६६३—तीक्ष्ण उग्र - धारा - शत - निशित शरीरी वह
वज्र - रूप दैत्य कहाँ अति बलशाली था।
और, कहाँ कोमल सरोरुह - समान यह
चरण तुम्हारा, अंब ! दीन - प्रतिपाली था।
ऐसे बहु विषम विरोध को विचार कर
बार-बार ध्यान - मग्न वृत्र - बल - घाली था।
अंबिका - समक्ष कर - बद्ध आ खड़े थे सुर
चैत्र रथ - नंदन - प्रमथ[5] सब खाली था।

१-अंधक नामक दैत्य के शत्रु। २ इन्द्र। ३ स्वामिकार्तिक। ४-यम
५-कुबेर, इन्द्र, शंकर के उपवन तथा निवास-स्थान

६६४—वाम - पद - नख से प्रकाशित हुये हैं जो कि
ऐसे चन्द्र - अंशु जिसे सुभग सजाये हैं।
मुण्ड - रक्त - रंजित सुरारि के शरीर पर
शोण पद - तल के अलक्त - रंग छाये हैं।
और, भूमि - पतित अमर - मुकुटों के रत्न
निज किरणों से जिसे चित्रित बनाये हैं।
अंब ! तेरे चरण समक्ष दण्डवत[1] गिर
देवता महिष - मिष दिव्य हव्य लाये हैं।

६६५—कोमल कलित कोकनद के समान शोण
सुन्दर सकल सुख - दायक सुघर है।
शोभित प्रतत - पत्र - मंडल - समेत सदा
सुभग स - नाल अमिताभ छवि - धर है।
हो रहा प्रफुल्ल युद्ध - भूमि सरसी में जहाँ
सुभट - तरंग तो भी रहता अचर है।
अंब ! तेरा चरण सरस सरसीरुह में,
गीध[2] रहा जिसमें महिष - मधुकर है।

६६६—अंब ! तेरे वाम - पद - पद्म के अनेक गुण;
जिसमें अनूप वाक्य अपने पिरोता है।
गुरु इतना कि शैल - कल्प[3] पशु पीसता है,
लघु इतना कि पति - कर - तल सोता है।
ऐसा भी न गुरु, जो अमित क्षण में ही बने,
ऐसा भी न लघु जो पलायमान होता है।
वाम वामदेव के लिए न, दैत्य - नायक[4] के
हेतु भी न दक्षिण, सुरों के दुःख खोता है।

१-दण्ड के समान। २-बिंध रहा। ३-तुल्य। ४-महिषासुर।

६६७—तीन पद - विक्रम सम्हाला है त्रिविक्रम ने
जब असुरेन्द्र - बलि - बंधन विचारा है।
तेरे एक पद के सुमुखि ! एक विक्रम ने
एक - वीर रजनीचरेन्द्र को सँहारा है।
तीन गुनी या तो बलशालिनी मुकुन्द से तू
अथवा मुकुन्द - बल तुझसे तिहारा है।
भणित[1] अनूप का विचार कर बार - बार
गणित लगा कर अमर - गुरु[2] हारा है।

६६८—केलि-काल बोले महाकाल कालिका से, "प्रिये !
मैं न हर, तेरा पद भूमि - भीति हर है।
मैं न हूँ कपाल - भार - धारी सुकुमारि ! अहो,
तेरा पद महिष - कपाल - भाल - धर है।
स्थाणु[3] हूँ न, चरण तुम्हारा स्थाणु-रूप, देवि
पशु ने मिटायी खाज आज जिस पर है।
मुझसे अधिक, क्षेम - करण चरण तेरा,
मैं हूँ चन्द्रधर यह पंच चन्द्र - धर[4] है"।

६६९—'त्रिभुवन - कुशल - सँहारी अमरारी[5] मृत'
ज्यों ही बात फैली असुरारि के कटक में।
बैल छोड़ दौड़े शिव - शंकर प्रसन्न - मन
हाथ को पसार के धतूरे की लटक में।
किन्तु अंबिका ने इन्द्र - वरुण - कुबेर देख
नयन तिरीछे कर मोद की मटक में।
कुछ हँसती - सी कुछ लसती स - कंप लोल
लज्जा से निवारा उन्हें हाथ की झटक में।

१-कथन। २-बृहस्पति। ३-शंकर। ४ पाँच नखों के चन्द्रमाओं को धारण करने वाला। ५-दैत्य (महिष)।

६७०—मंदर समान महिषासुर महान जब
करता भ्रमण था अपार पारावार में।
होते थे स-शंक जलचर अति व्याकुल हो
खिन्न थे तिमिंगल[1] सलिल-हाहाकार में।
वीचियाँ स-कंप देख कंपित[2]-प्रकंप अति
शेष-मणि-गण झरते थे जल-धार में।
देव! तुम उस दुष्ट-नायक की देखो दशा,
भार पद-भार में न सार अस्थि-सार में।

६७१—दोनों शृङ्ग दोनों ध्रुव तक पहुँचे थे उच्च,
नेत्र सूर्य्य-चन्द्र का प्रकाश शरमाते थे।
खुर पड़ते थे भार-युक्त जब भूमि पर
धँस धरती में शेष-भोग[3] तक जाते थे।
पृथुल[4] शरीर मूर्तिमान काल-यामिनी-सा
देख भट वीर-मंत्र सहज जगाते थे।
उस महिषासुर को देवि-पाद-पिष्ट देख
काक-गृद्ध-श्वान-वृक छक-छक खाते थे।

६७२—"ब्रह्मा यदि भागें तो न अचरज कोई, क्योंकि
योग-निष्ठ तापस विरत रहते ही हैं।
संभ्रम[5] न कोई भगवान भग[6] भागें यदि
लोग उन्हें अर्ध-नारीश्वर कहते ही हैं।
कुछ भी विचित्र न पलायन मुकुन्द का भी
हाथ में सु-कोमल कमल गहते ही हैं"।
महिष विदारा तू ने वाम पद से यों कह
तेरी रोष-अग्नि में असुर दहते ही हैं।

१-ह्वेल मछली। २-समुद्र। ३-फण। ४-मोटा। ५-अचिन्त्यता। ६-शंकर।

६७६—फिर गया चक्र ही मुरारि से मुरारि का तो
चक्र[1] देवताओं का समक्ष कैसे थमता।
हो गया प्रथम गुण[2] - हीन चाप वासव का
तो फिर अनीक[3] में पिनाक कैसे जमता।
व्यर्थ हुये विपुल षडानन[4] प्रहार जब
क्यों कर षडानन में आती न विषमता।
अंब! तेरा पद नमता न यदि दानव पै,
उन्नत अमानव कदापि नहीं नमता।

६७७—छूटे लड़ने को देवताओं के समूह सब
आये जब सामने महिष अभिमानी के।
छूटे दैत्य - संघ क्रुद्ध युद्ध को समुद्यत हो,
दौड़े दल - बल उस विधि वरदानी के।
छूटे बाण, छूटे चक्र, छूटे शूल, छूटे कुन्त
छूटे होश हंस - वृष - गरुड़ाभियानी[5] के।
छूटे अस्त्र - शस्त्र देव - कंपित - करों से देख
छूटे[6] सभी हेतिक भुजाओं से भवानी के।

६७८—मारा विश्व - माया ने सँहारा महिषासुर को
विक्रम - कथा यों चारों ओर लूमने लगी।
फैल गयी त्वरित हिमालय के आलय में
मैना[7] अभिमान - वशीभूत झूमने लगी।
एक कर पकड़ गणेश का चली यों कुछ
गोद ले कुमार को समोद घूमने लगी।
जाकर समीप अति प्रेम से अनूप निज
लाडिली का ललित ललाट चूमने लगी।

१-सेना। २-प्रत्यंचा। ३-सेना। ४-एक शस्त्र। ५-ब्रह्मा, शिव और विष्णु। ६-प्रहार को छूटे (चले)। ७-उमा की जननी।

६७६—बाणों से अगोचर रही जो महिषासुर के
असि अवलोक जिसको न कहीं पाती है।
वज्र जिसे ताक सकता न है समीप से भी
यत्न करने से भी गदा को न लखाती है।
चन्द्र दृष्टि - गत कर पाता न कदापि जिसे
शूल के निरीक्षण को व्यर्थ ही बनाती है।
मृत्यु वह, तेरे वाम - पद के अँगूठे पर,
नाचती सुरारि को समक्ष दिखलाती[1] है।

६८०—अंब ! तू हिमालय - तडाग की सरोजिनी है,
तेरे पद सुखद सरोज - से लखाते हैं।
क्षोभ[2] से महिष के पलायित हो भृंग - पुंज—
सदृश अनूप सप्तलोक दौड़ आते हैं।
मृदित[3] विलोक सुर - शत्रु को प्रसन्न - चित्त
आनँद मनाते, गुण गाते, मँडराते हैं।
चंचल बनाते पक्ष - पात[4] से समीरण को,
अंचल हिलाते हैं, दृगंचल हँसाते हैं।

६८१—पीला पड़ जाता मुख श्यामल अयोमुख[5] का
ऐसा एक - मात्र शिति-कंठ[6] का सहारा वह।
देख हुयी रंजित अरुणिमा अरुण की भी
सौम्य - सुर - हृदय - सरोरुह का प्यारा वह।
युद्ध की कलुष - कालिमा का नाशकारी जो कि
जिससे सुचारु चन्द्र - मंडल भी हारा वह।
मेचक[7] महिष को बनाता हत - द्युति[8] जो कि
जयति जयति सित हसित तुम्हारा वह।

१-"देखने" के प्रायः सभी पर्य्यायवाची शब्दों का प्रयोग इस छन्द की विशेषता है। २-डर। ३-मींजा हुआ। ४-परों के चलान से। ५-राक्षस। ६-शंकर। ७-नीला। ८-द्युति-हीन।

६८२—वक्र जो हुआ न चक्र - धारा से अयोमुख[1] की
यद्यपि सदैव मृदु भाव का बसेरा है।
वक्र जो हुआ न घोर धारा से क्षुरप्र की भी
यद्यपि अराल[2] चन्द्र - तुल्य प्राश[3] हेरा है।
वक्र जो हुआ न प्रतिरोध की हवा से, अहो !
यद्यपि कुठार - धार ने भी इसे फेरा है।
वक्र हो गया सो रक्त-धार की घृणा से, अंब !
आनन - सरोरुह सदय वह तेरा है।

६८३—श्याम शिखरी[4] से महिषासुर को मार कर
पद से सँहार अघ - ओघ - घोर - घालिका।
शृंग पै गिरीश के समा गयी गिरीश - अंग
जैसे पुरा होकर कुमारी शक्ति बालिका।
देख के शिला को विन्ध्य - वास करने को चली
छूटी शक्र - पवि - सी त्रिकोक-चक्र-चालिका।
चरण - ग्रहण करने का फल कंस को दे
विन्ध्याचल-वासिनी बनी सो ज्योति-जालिका।

६८४—जिस पर अग्नि का प्रकाश मंद होता रहा
चन्द्र की प्रभा से अधिगम्य[5] जो रहा नहीं।
द्वादश दिवाकर का प्रखर प्रताप, किन्तु
एक भी दिवाकर ने आतप सहा नहीं।
शक्र के सहस्र अक्ष[6] अंध अंधकार से थे,
दैत्य तामसी का तम किसने गहा नहीं।
पंच - नख - व्याज पंच चन्द्र को उदीयमान
देख, उस अघ[7] से अघत्व[8] निबहा नहीं।

१-राक्षस। २-टेढ़ा। ३-एक अस्त्र। ४-पर्वत। ५-प्राप्य। ६-आँख।
७-पापी या राहु। राहुत्व या पाप।

६८५—महिष - उपप्लव[1] से जगती युगान्त - काल—
आकुल विलोक काली - रूप धरने लगी।
देख शृंग समझ असुर आततायी उसे
रोष - युक्त लोहित स्वरूप भरने लगी।
प्राण हर प्राण - हारी पशु को परास्त कर
फिर से स्वकीय रंग - गौर करने लगी।
शंकर - त्रिनेत्र - तुल्य बन के त्रिरूपा, अंब !
त्वरित त्रिनेत्र[2] का हृदय हरने लगी।

६८६—कोप करने से है अरुणता समायी जहाँ
अथवा महावर का रंग अंग साजा है।
शृंग से विताड़ित हुआ है नूपुरों का रव
हुंकृति - समान स्वयमेव बन गाजा है।
जान कर निकट स्वकीय मृत्यु मानों आज
असुर - समाज भय - भीत भूरि भाजा है।
अंब ! महिषासुर के ऊपर प्रचंड तेरा
चरण अपर[3] यमराज - सा विराजा है।

६८७—मार कर महिष, सँहार कर मुण्ड - तुण्ड,
धार कर रक्त पद - पंकज भवानी का।
हो गया अवस्थित मृगेन्द्र की सटा पै चारु
लेकर महान प्राण - दान अभिमानी का।
नूपुर - निनाद भृंग - तुल्य अविराम हुआ,
केसर - समान पिंग केसराभिमानी[4] का।
अंत्र - जाल - माला मिली भूत-प्रेत-नायकों को
भूत - प्रेत - नायक[5] को गौरव मृडानी का।

१-उपद्रव। २-शंकर। ३-दूसरा। ४-सिंह। ५-शंकर।

६८८—अंबिका - विताडित महिष पाद - पिष्ट देख
उसके शरीर से स्वकीय शस्त्र पाने को।
आयु - तुल्य अस्त्र निज फिर धरने को बढ़े
देवता त्रिदिव - सुख - संपति बढ़ाने को।
इन्द्र ने कुलिश, चक्र हरि ने सम्हाला फिर,
पाया शूल शंभु ने त्रिलोकी के डराने को।
हो गये कुबेर शीघ्र - गामिनी गदा को प्राप्त
दंड मिला चंड जिनेश[1] वीर-बाने को।

६८९—बाण को न मारा, प्रिये! बाण[2] को सँहारा तूने
वक्ष हुआ उन्नत समक्ष अमरारी के।
मध्य - देश[3] होगया विपुल बलि[4] - हीन तभी
भार कर वहन उरोज बोझ भारी के।
शल्य[5] से न मारा शल्य[6] मारा शल्य[7] - अंतस में
प्राण ही लिये न तू ने महिष सुरारी के।
मारा उनको भी जो लड़े न समरस्थल में
निकले रहस्य - मय बचन पुरारी के।

६९०—जिस महिषासुर के प्रबल पराक्रम से
तीनों भुवनों में एक उधम खड़ा हुआ।
तल में, वितल में, अतल में, तलातल में,
भू में, स्वर्ग - लोक में, कहाँ न झगड़ा हुआ ?
विन्ध्य - शृंग - सदृश प्रवर्धमान देख जिसे
भय इन्द्र - वरुण - कुबेर को बड़ा हुआ।
अंब - अंघ्रि - अंतिक[9] असुर लसता है वही
नूपुर - निकट नग नीलम पड़ा हुआ।

१- यम। २-एक दैत्य। ३ कटि या राजा बलि का निवास स्थान। ४ दैत्य या लकीर। ५-एक शस्त्र। ६-घाव। ७-एक दैत्य। ८-बढ़ता हुआ। ९-समीप में।

६६१—"रक्त से अलक्त[1] हो रहा है पद तेरा, प्रिये !
क्योंकर महावर का रंग इसमें भरूँ ?
वज्र - तुल्य - पुष्ट दुष्ट - मुण्ड भी किया है चूर्ण,
दाबना वृथा है, व्यथा कैसे इसकी हरूँ ?
त्रास से विहीन देव - वृन्द हो रहे हैं नत
कैसे इसे लेकर स्वकीय शिर पै धरूँ ?
चित्त चाहता है कि अकेले अविराम[2] यह
चरण सदैव चंडि ! चुम्बन किया करूँ[3]"।

६६२—ऐसा कौन देश था न महिष गया हो जहाँ,
ऐसा कौन लोक था कि जिसको न लूटा हो।

पद के प्रहार से फटा है उसका भी शीस
दंड - घात - द्वारा ज्यों मजीठ-माठ[4] फूटा हो।
किम्वा नील - अंबर[5] - विमंडित सुरेन्द्र पर
अमृत छुड़ाने वैनतेय द्रुत छूटा हो।
या कि नील-अद्रि[6] के सुनील शृङ्ग तोड़ने को
तडित - विमंडित सुमेरु - गिरि टूटा हो।

६६३—ध्वान्त[7] को त्रिलोक के प्रशान्त करने को, विधि
ध्यान - तन्त्र[8] थे, अब समाधि से विगत हों।
आकर कुबेर चैत्र - रथ[9] में विहार करें,
वरुण समुद्र में निलीन अब मत हों।
महिष मरा है, महिष - ध्वज[10] न पायें दुख,
स - मुद स्व - कार्य में धनंजय[11] नियत हों।
पद - नख - व्याज अंब - चरण - शरण - गत
पाँचों लोक - पाल लोक - पालन - निरत हों।

१-लाल। २-निरन्तर। ३-शंकर द्वारा भगवती की बिनय। ४-घट। ५-वस्त्र। ६ नीलगिरि पर्वत। ७ अंधकार। ८-ग्रस्त। ९ कुबेर का बन। १०-यम। ११-अग्नि।

९९४—बालारुण - अरुण महावर की लीक - संग
बालारुण - अरुण सुरंग अंग के ही छद्म।
सर्व - भुक्त - केसर - कलाप भृंग - मंडली की
गर्व - युक्त हो रहा गरीयसी गिरा का गद्म[1]।
निशित - निनाद नूपुरों के मंजु मंडल में
सहित रुतों[2] के पक्षपाती मरुतों[3] का सद्म।
पूरित - प्रफुल्लता हिमाद्रि - सरसी में रम्य
जयति उमा का पद, जयति उमा का पद्म।

९९५—दश नख वाले युग हस्त हैं नखायुध[4] के
पंच नख वाला दिव्य अस्त्र युवती का है।
वैरी का उन्होंने उर कोमल विदारा, किन्तु
इन्द्रसार[5] - कठिन कपाल कलही का है।
सफल हुआ है असुरारि नाशने में आज
ओज देख हो गया तरणि - तेज फीका है।
कपट - मृगेन्द्र[6] के करारविन्द से भी उग्र
निपट पदारविन्द सिंहवाहिनी का है।

९९६—इन्द्र हुये निहित गुफा में अमराचल[7] की
वरुण अदृश्य बने नीचे जल - तल के।
सभय सभा - समेत भागे यमराज कहीं,
बुझ गये भूरि भाग्य - दीपक अनल के।
शरण कुबेर ने कहाँ ली, यह जानें हर,
दीन हुये विबुध अधीन पशु - बल के।
देख कर आज महिषासुर - निधन - साज
पद - नख - ब्याज लोक - पाल पाँचों झलके।

१-प्रवचन। २-शब्द। ३-देवता या वायु। ४-सिंह। ५-वज्र। ६-नृसिंह। ७-सुमेरु पर्वत।

६६७—यदि महिषासुर को मारती कृपाण से तो
पानी देख असि का अतीव हुलसाता पशु।
काम में न लायी पत्त - पाती जान शायक को
शूल से सँहारती तो शूली[१] बन जाता पशु।
वध्य विषयी के लिए दंड अति तुच्छ ही है
कैसे बिना पद के परम पद पाता पशु।
अंब ! तेरे चरण सहज अरुणारे[३], तो भी
क्यों कर स्व - रंग वह रागी न लगाता पशु।

६६८—शुंभ को प्रदान किया स्थान मुण्डमाला-मध्य
इन्द्र को प्रदान किया भूषण[४] भुजाओं का।
स्वर्ग - लोक-यान को निशुंभ को विमान दिया
सूर्य्य-वाजियों को यश अभय शिराओं[५] का।
देकर परम पद मूढ़ महिषासुर को
स्थान अमरों को दिया दिव्य सुषमाओं का।
एक पदाघात में सँहार दिया दोनों आज
मान दानवों का, अभिमान देवताओं का।

६६९—वामदेव - वामा - वाम - चरण महान धन्य
जिसने अँगूठे से उछाल के प्रहारा पशु।
जिसके विमानित कमल - तल - ताडन से
पिंडीभूत होकर सकल बल हारा पशु।
लौह - सी कठिन, वज्र - घात - सी कठोरतर
जिसकी कि एँड़ी से तुरन्त गया तारा पशु।
स्वीय शृङ्ग - कोण से निनाद कर नूपुरों का
वीणा-सी वजाता स्वर्ग-लोक को सिधारा पशु[६]।

१-पक्ष के अनुसार पतन वाले। २-शकर। ३-लाल। ४-चक्र
५-लगाम। ६-प्रसिद्ध है स्वर्ग-यात्री के साथ बाजे बजते चलते

७००—सूर्य्य के हरित वाजियों को घास जान कर
दौड़ा दुष्ट सारा अंतरिक्ष व्याप्त हो गया।
देख श्याम पंक-सा कलंक गदाकर का
भागा रोदसी में देवता-सा आप्त[1] हो गया।
भिड़के जटाल[2] से सुवर्ण-लेलिहान[3] जन्तु
जाके स्वर्ग में, न वहीं पै समाप्त हो गया।
धन्य चंडी चरण-जलाशय-प्रमाण[4] जहाँ
महिष महान महिमा को प्राप्त हो गया।

७०१—उलझ रहे हैं कुन्त[5]-कूल में स-मूल दन्त
उसके कृपाण पे स्व-पाणि धरती हुयी।
पुच्छ से घिरा पद जमाती हुयी भूतल में
दोनों शृङ्ग ज्या[6] के अंक-मध्य भरती हुयी।
लोल पदाघात से अडोल[7] शूल को भी, अंब!
छोड़ा कर से यों वध से ज्यों डरती हुयी।
जयति अनूप इस भाँति महिपासुर को
चंडि चरणों से चूर-चूर करती हुयी।

१ पूज्य। २ शंकर। ३-चाटने वाला। पत्ते खाने वाला। ४ तुल्य।
५-त्रिशूल। ६-प्रत्यंचा। ७-स्थिर।